राजर्षि मनु और उनकी मनुस्मृति

राजर्षि मनु और उनकी मनुस्मृति

[मनुस्मृति-विषयक विभिन्न बिन्दुओं की विभिन्न विद्वानों द्वारा तर्क-प्रमाणयुक्त समीक्षा]

लेखक एवं संकलन-सम्पादक

डॉ० सुरेन्द्रकुमार

आचार्य, एम.ए. संस्कृत-हिन्दी

(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुड़गांव (हरियाणा)

सम्पादकीय

'राजर्षि मनु और उनकी मनुस्मृति' शीर्षक यह मुक्ताहार पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुझे पर्याप्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसके तीन कारण हैं—एक, इस विषय के विशेषज्ञ अनेक वैदिक विद्वानों के लेख इसमें ऐसे संकलित हैं जैसे किसी हार में मोतियाँ पिरोई होती हैं। उन विद्वानों के मनु और मनुस्मृति-सम्बन्धी चिन्तन से पाठक लाभान्वित हो सकेंगे। दूसरा, यह पुस्तक मनु और मनुस्मृति-विषयक भ्रान्तियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होगी तथा उन भ्रान्तियों के विस्तार को रोकेगी। तीसरा, एक ही स्थान पर, एक विषय पर, अनेक विचारकों के विचार एकत्र मिलना कठिन होता है। सबको सब पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो पातीं, अतः अध्ययन-मनन में पाठकों को सुविधा-लाभ होगा।

सन् 1996 (विक्रमी सम्वत् 2053) और उसके कुछ पूर्व वर्षों में कुछ राजनीतिक दलों ने मनु-मनुस्मृति को अपनी स्वार्थपूर्ति का मुद्दा बनाकर 'मनुवाद' के नाम पर खूब विषवमन किया और भारतीय समाज में विघटन के बीज बोने शुरू कर दिये। आर्यसमाज जैसा राष्ट्रभक्त संगठन इस राष्ट्रविरोधी गतिविधि से चिन्तित हो उठा। राष्ट्रहितैषी बुद्धिजीवियों के मस्तक पर चिन्ता की रेखाएं झलकने लगीं। सब सोचते थे कि इसका निराकरण कैसे किया जाये। दुःख का विषय यह भी था कि यह सारा प्रोपगेंडा मिथ्या था और पाश्चात्य लेखकों द्वारा प्रयुक्त फूट-नीति पर टिका था। ऐसा लग रहा था—जैसे अंग्रेजों का स्वप्न स्वतन्त्र भारत में साकार होने लगा है।

किसी को भी आगे न आता देख इस समाज और राष्ट्रविरोधी निन्दनीय गतिविधि को रोकने के लिए आर्यसमाज उठ खड़ा हुआ। अपने तर्क रूपी तीर और प्रमाण रूपी तरकस लेकर, दृढ़संकल्प के कमरबन्द से

कमर कसकर, वैचारिक युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया। वयोवृद्ध संन्यासी स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती ने सन् 1996 (विक्रमी संवत् 2053) को 'मनुवर्ष' घोषित कर दिया और मनुविरोधी वितण्डावाद को रोकने तथा मनु-सम्बन्धी सत्य मान्यताओं को प्रचारित-प्रसारित करने का कार्यक्रम बनाया। देश के कोने-कोने में आर्यसमाजों के माध्यम से मनु-विषयक उत्सवों के आयोजन हुए, अनेक स्थानों पर महासम्मेलन भी हुए, लेखों और ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। यह सब देखकर मनुविरोधी ठिठकने लगे। आर्यों के तर्कों और प्रमाणों के उत्तर न सूझने पर वे लोग बगलें झाँकते रह गये। मनुविरोधी अभियान में एक ठहराव-सा आ गया और भ्रान्तियों का प्रसार धीमा पड़ गया।

उसी वर्ष में स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती ने 'राजर्षि मनु' के नाम से आठ ट्रैक्ट प्रकाशित किये। एक ट्रैक्ट एक विद्वान के लेख पर आधारित था। लेखक सभी सुलझे हुए विद्वान् थे। विषय को प्रभावशाली शैली में प्रस्तुत करने की योग्यता उनकी लेखनी में थी। जिस लेखक का जैसा अपना विचार था उसको बिना किसी टीका-टिप्पणी के उसी रूप में प्रकाशित कर दिया। लक्ष्य यही था कि लोगों तक मनु-सम्बन्धी अच्छे विचार एक बार पहुँचें।

उसी वर्ष आर्यसमाज भुवनेश्वर (उड़ीसा) के उत्सव पर उड़िया के आर्य लेखक श्री प्रियव्रत दास जी इन्जीनियर के निमन्त्रण पर स्वामी जी का और मेरा जाना हुआ। हम दोनों एक ही कक्ष में तीन दिन रुके। 'राजर्षि मनु' नामक पुस्तिकाओं के सैद्धान्तिक पक्ष पर पर्याप्त चर्चा हुई। स्वामीजी ने मुझे टिप्पणी-सहित एक पुस्तकाकार में इनका सम्पादन करने को कहा। फिर वह बात विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गयी। कुछ वर्षों के बाद स्वामी जी महाराज भी दिवंगत हो गये।

विचित्र संयोग देखिए। आर्य साहित्य के प्रकाशक, प्रचारक और वितरक 'गोविन्दराम हासानन्द, नयी सड़क, दिल्ली' के मन में वही योजना वर्षों बाद फिर से अंकुरित हुई और उसके सम्पादन का दायित्व फिर से मुझ पर आ गया। तब तो यह पूरा नहीं हो सका किन्तु अब इसको पूरा कर अपने पाँच लेखों के साथ इसे पाठकों के हाथों में सौंप रहा हूँ। पाठक

इसका अध्ययन कर अधिकाधिक लोगों को पढ़ने को प्रेरित करें जिससे भारत के ही नहीं, अपितु मानव जाति के गौरव रूप महापुरुष, आदिराजा, विश्व के आदि संविधान निर्माता, आदि धर्मशास्त्रकार और मानवों के आदि-प्रमुख-पुरुष महर्षि मनु के विषय में फैलाई जा रही भ्रान्तियों पर विराम लग सके और मनु की प्रतिष्ठा की रक्षा हो सके।

इस राष्ट्रहितकारी पुण्य कार्य का प्रकाशन-दायित्व अपने हाथों में लेने के लिए 'गोविन्दराम हासानन्द' प्रकाशन के स्वामी श्री अजयकुमार जी शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

गुड़गांव **—डॉ० सुरेन्द्रकुमार**

अनुक्रम

1. आदिराजा और आदि विधि-प्रदाता मनु स्वायम्भुव (जीवनवृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व) *(डॉ. सुरेन्द्रकुमार)* 11
2. मनुस्मृति की मौलिक मान्यताएँ *(डॉ. सुरेन्द्रकुमार)* 35
3. मनुस्मृति में प्रक्षेप : प्रमाण और दुष्परिणाम *(डॉ. सुरेन्द्रकुमार)* 54
4. मनुस्मृति : एक अध्ययन *(स्व. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय)* 67
5. मनुस्मृति : रचनाकाल और प्रक्षेप *(स्व. आचार्य रामदेव)* 108
6. मनु की देन *(स्व. पं. भगवद्दत्त)* 138
7. राजर्षि मनु और मनुस्मृति *(स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल)* 154
8. राजर्षि मनु और वेद *(डॉ. भवानीलाल भारतीय)* 169
9. मनु की वेदों के प्रति आस्था *(डॉ. कृष्णलाल)* 186
10. मनु की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र *(डॉ. कृष्णवल्लभ पालीवाल)* 210
11. चिन्तन की एक भिन्न दिशा : मनु की वर्ण-व्यवस्था में शूद्र तथा अन्य वर्ण *(डॉ. उर्मिला रुस्तगी)* 238
12. वर्णव्यवस्था में आर्य-शूद्र वैमनस्य की अवधारणा पाश्चात्य दुरभिसन्धि की देन *(डॉ. सुरेन्द्र कुमार)* 268
13. किस मनु का विरोध किया है डॉ० अम्बेडकर ने? *(डॉ. सुरेन्द्र कुमार)* 276

1

आदिराजा और आदि विधि-प्रदाता
राजर्षि मनु स्वायम्भुव
जीवनवृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ० सुरेन्द्र कुमार
(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

यह वृत्तान्त उस समय का है जब मानवोत्पत्ति होने के बाद इस सृष्टि का 'आदियुग' चल रहा था।[1] मनुष्यों को वेदों का शिक्षाप्रद ज्ञान प्राप्त हो चुका था और 'वैदिक संस्कृत' नामक उन्नत, समृद्ध और व्याकरण-सिद्ध भाषा व्यवहार में प्रचलित थी।

आदिकाल में जनसंख्या अत्यल्प थी। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु आवश्यकता से अधिक मात्रा में उपलब्ध थी, अत: लोगों में स्वत्वाधिकार की प्रवृत्ति नहीं पनपी थी। न भूमि पर किसी का अधिकार था, न वनों पर, न खाद्य पदार्थों पर, न जल पर, न पशुओं पर, न मनुष्यों पर। धरती अकृष्टपच्या—बिना जोते इच्छानुसार अन्न-फल देने वाली थी। अत: न कृषि होती थी, न अन्न-पान का संग्रह। जिस व्यक्ति को जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती थी तभी मिल जाती थी। आवश्यकता, आजीविका, व्यवसाय की चिन्ताओं से रहित लोग विद्याध्ययन, धर्मपालन, तपस्या, ईश्वरचिन्तन पूर्वक आध्यात्मिक जीवन जी रहे थे। स्वविवेक से आत्मानुशासन में रहकर नियमों-मर्यादाओं का पालन करते थे, आत्मोन्नति में समय व्यतीत करते थे, सभी ब्राह्मण वर्णस्थ थे। कोई किसी पर न अन्याय करता था, न अत्याचार। लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि का अवसर ही

---

1. **मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।** *(निरुक्त 3/4)*
धर्मं पप्रच्छुरासीनम् आदिकाले प्रजापतिम्। *(महाभारत, शान्ति० 36/3)*
आदिकाले हि....पुरुषा बभूवुरमितायुषः। *(चरक संहिता 3/31)*

2

मनुस्मृति की मौलिक मान्यताएँ

डॉ० सुरेन्द्रकुमार
(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

भारतीय राजनीति का आचरण बहुत उच्छृंखल है। तटरहित बरसाती नदी के समान निहित स्वार्थों के लिए उसकी धारा किस ओर मुड़ जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता। चुनाव जीतने के लिए उसे बस, कोई 'मुद्दा' रूपी ब्रह्मास्त्र चाहिए, चाहे उसके प्रक्षेपण का परिणाम देश और समाज के लिए कितना ही विघटनकारी और विनाशकारी हो! इसी लक्ष्य को पाने के लिए कुछ राजनीतिक दलों ने, प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुसार, मानवसृष्टि के आरम्भिक काल में जन्मे महर्षि मनु को खोद निकाला है और उसके नाम पर एक झूठा मुद्दा गढ़ लिया है—**'मनुवाद'**। 'मनुवाद' शब्द हवा में उछाल तो दिया गया है किन्तु उसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया है। इसका प्रयोग भी उतना ही अस्पष्ट और लचीला है, जितना राजनीतिक शब्दों का। किन्तु जिन सन्दर्भों में इसका प्रयोग किया जा रहा है उससे स्पष्ट होता है कि मनु और मनुवाद के विषय में भ्रान्तियों का बोलबाला है और वे किंवदन्तियों के समान फैल रही हैं। यदि हम मनुस्मृति के निष्कर्ष के अनुसार मनुवाद का अर्थ करें तो सही अर्थ होगा—**'गुण-कर्म-योग्यता के श्रेष्ठ मूल्यों के महत्व पर आधारित विचारधारा'**, और तब **'अगुण-अकर्म-अयोग्यता के अश्रेष्ठ मूल्यों पर आधारित विचारधारा'** को कहा जायेगा—**'गैर मनुवाद'**। जो इसके विपरीत अर्थ में 'मनुवाद' शब्द का प्रयोग करते हैं वे स्वयं भ्रमित हैं और अन्यों को भ्रमित कर रहे हैं।

आश्चर्य तो तब होता है जब हम ऐसे लोगों को मनु और मनुस्मृति का

विरोध करते हुए पाते हैं, जिन्होंने मनुस्मृति को पढ़ने की बात तो दूर, उसकी आकृति तक देखी नहीं होती। सामान्य व्यक्तियों की बात छोड़ दीजिए, डॉ० अम्बेडकर जैसे व्यापक अध्येता भी मनु-विरोध के प्रवाह में इतने बह गये हैं कि उन्हें प्रत्येक शूद्र-विरोध मनुविहित नजर आता है। शंकराचार्य द्वारा लिखित शूद्रविरोधी वचनों को भी उन्होंने मनुस्मृति-प्रोक्त कहकर मनु के खाते में जोड़ दिया है। साधारण लेखकों में मनु के नाम पर जो अराजकता पाई जाती है, उसका विवरण लम्बा है। मनुस्मृति-विरोधी सभी लोगों में कुछ एकांगी और पूर्वाग्रहयुक्त बातें समानरूप से पाई जाती हैं—

1. वे कर्मणा वर्णव्यवस्था को सिद्ध करने वाले आपत्तिरहित श्लोकों और जिनमें स्त्री-शूद्रों के लिए हितकर और सद्भावपूर्ण बातें हैं, जो कि पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध होने के कारण मौलिक सिद्ध होते हैं, को उद्धृत ही नहीं करते। केवल आपत्तिपूर्ण श्लोकों, जो कि प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, को उद्धृत करके निन्दा-आलोचना करते हैं।

2. उन्होंने इस शंका का समाधान नहीं किया है कि एक ही पुस्तक में, एक ही प्रसंग में स्पष्टतः परस्पर-विरोधी और प्रसंग-विरोधी कथन क्यों पाये जाते हैं? और आपने दो कथनों में से केवल एक कथन को ही क्यों ग्रहण किया? दूसरे की उपेक्षा क्यों की? यदि वे लोग इस प्रश्न पर अपने लेखन में विचार करते तो उनकी आपत्तियों का उत्तर उन्हें स्वयं मिल जाता। न आक्रोश में आने का अवसर आता, न विरोध का, अपितु मनु-सम्बन्धी बहुत-सी भ्रान्तियों से भी बच जाते।

मनुविषयक प्रमुख तीन भ्रान्तियाँ : मनु और मनुस्मृति के सम्बन्ध में पाई जाने वाली भ्रान्तियों को मुख्यरूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(क) मनु ने जन्म पर आधारित जाति-पांति व्यवस्था का निर्माण किया।

(ख) उस व्यवस्था में मनु ने शूद्रों अर्थात् वर्तमान दलितों के लिए पक्षपातपूर्ण एवं अमानवीय विधान किये हैं, जबकि सवर्णों, उनमें भी विशेषतः ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्रदान किये हैं। इस प्रकार मनु

शूद्रविरोधी थे।

(ग) मनु स्त्रीविरोधी भी थे। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं दिये। मनु ने स्त्रियों की निन्दा की है।

इन तीन भ्रान्तियों के समाधान के लिए बाह्य प्रमाणों और मतों की अपेक्षा मनुस्मृति के अन्त:साक्ष्यों को प्रस्तुत करना अधिक प्रामाणिक एवं उपयोगी रहेगा, अत: उन्हीं के आधार पर निष्कर्ष दिये जाते हैं—

मनु वर्णव्यवस्था के प्रवर्तक हैं, जातिव्यवस्था के प्रवर्तक नहीं हैं—महर्षि मनु उस आदियुग के व्यक्ति हैं जब जाति की अवधारणा अस्तित्व में ही नहीं आई थी, अतः मनुस्मृति में जन्म पर आधारित जातिव्यवस्था नहीं है अपितु गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित व्यवस्था है, जो वेदमूलक है। यह मूलत: तीन वेदों (ऋग्० 10/10/11-12; यजु० 31/10-11; अथर्व० 19/6/5/6) में पाई जाती है।[1] राजर्षि मनु ने इसे वेदों से ग्रहण करके अपने शासन में क्रियान्वित किया तथा अपने धर्मशास्त्र के द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित किया। यह समझ लेना आवश्यक है कि वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था परस्पर विरोधी दो व्यवस्थाएँ हैं। एक की उपस्थिति में दूसरी नहीं टिक सकती। इनके अन्तर्निहित अर्थभेद को समझकर इनके मौलिक अन्तर को आसानी से समझा जा सकता है। वह यह है—वर्णव्यवस्था में वर्ण प्रमुख हैं और जातिव्यवस्था में जाति अर्थात् 'जन्म' प्रमुख है। बालक या व्यक्ति 'वर्ण' का अपनी रुचि के अनुसार चयन करता है, जबकि जाति माता-पिता से जन्म होते ही निर्धारित हो जाती है। वर्ण कभी भी उसकी योग्यता को ग्रहण कर बदला जा सकता है जबकि 'जाति' जो जन्म से निर्धारित हो गयी, वह मृत्युपर्यन्त रहती है। जब तक गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर व्यक्ति इन समुदायों का वरण करते रहे, तब तक वह वर्णव्यवस्था कहलाई। जब जन्म से ब्राह्मण और शूद्र आदि वर्ग माने

---

1. **प्रश्न— यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।**
मुखं किमस्य, कौ बाहू, का ऊरू पादौ उच्येते॥
उत्तर— ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

(ऋग्वेद 10/90/11-12)

जाने लगे तो वह जातिव्यवस्था बन गयी। वरण करने अर्थ में 'वृञ्' धातु से बने '**वर्ण**' शब्द का अर्थ ही यह संकेत देता है कि जब यह व्यवस्था बनी तब यह गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार 'वरण'=चयन की जाती थी, जन्म से नहीं थी।[1] भारतीय समाज में जन्मना जातिवाद की भावना बौद्धकाल से कुछ शताब्दी पूर्व ही पनपी है।

मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था का साधक एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि प्रथम अध्याय में मनु ने केवल चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है, वर्णोत्पत्ति के उस प्रसंग में किन्हीं जातियों अथवा गोत्रों का परिगणन नहीं किया है। यदि मनु के समय जातियाँ होतीं और जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता तो वे चार वर्णों के उल्लेख के प्रसंग में उन जातियों का परिगणन अवश्य करते और बतलाते कि अमुक जातियाँ या गोत्र ब्राह्मण हैं और अमुक शूद्र। इसके विपरीत मनु, जन्माधारित महत्ताभाव को उपेक्षणीय समझते हैं, (3/109), यहाँ तक कि आदर-बड़प्पन के मानदण्डों में कुल-गोत्र-जाति का उल्लेख तक नहीं है, केवल विद्वत्ता, सत्कर्म आदि का है।[2] यदि हम मनु को जन्मना वर्णव्यवस्था का प्रतिपादक मान लेते हैं तो इससे मनुस्मृतिरचना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र माना जाने लगे, तो वह विहित कर्म करे या न करे, वह उसी वर्ण में रहेगा। उसके लिए कर्मों का विधान निरर्थक है और वर्ण-परिवर्तन का विधान भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा।

वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि वर्णव्यवस्था में रुचि और योग्यता के अनुसार कभी भी वर्णपरिवर्तन हो सकता है और व्यक्ति का उस वर्णपरिवर्तन की स्वतन्त्रता होती है, जबकि जातिव्यवस्था में जहाँ एक बार जन्म हो गया, जीवनपर्यन्त वही जाति रहती है। मनु की वर्णव्यवस्था में व्यक्ति को वर्ण-परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी। इस विषय में मनुस्मृति का एक महत्वपूर्ण श्लोक है, जो सभी सन्देहों को दूर कर देता है—

---

1. **वर्णः वृणोतेः।** *(निरुक्त)*
2. **वित्तं बन्धुः वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।**
   एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ *(2/136)*

शूद्रो ब्राह्मणताम्-एति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥

अर्थात्—'गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर ब्राह्मण शूद्र बन जाता है और शूद्र ब्राह्मण। इसी प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों के कुलों में उत्पन्न बालकों या व्यक्तियों का भी वर्ण परिवर्तन हो जाता है।

इसके अतिरिक्त भी मनुस्मृति में दर्जनों ऐसे श्लोक हैं, जिनमें निर्धारित कर्मों के त्याग से और निकृष्ट कर्मों के कारण द्विजों को शूद्र कोटि में परिगणित करने का विधान किया है। (द्रष्टव्य 2/37, 40, 103, 168; 4/ 245 आदि श्लोक)। और शूद्रों को श्रेष्ठ कर्मों से उच्चवर्ण की प्राप्ति का विधान है (9/335)।[1] ऋग्वेद से लेकर महाभारत (गीता) पर्यन्त यह कर्माधारित वर्णव्यवस्था चलती रही है। गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः' (4/13) अर्थात् 'गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का निर्माण किया गया है। जन्म के अनुसार नहीं।

भारतीय इतिहास में, सैकड़ों ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जो कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था की पुष्टि करते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि किसी भी वर्ण को जन्म के आग्रह से नहीं जोड़ा गया। जैसे (1) दासी का पुत्र 'कवष ऐलूष' और शूद्रापुत्र 'वत्स' मन्त्रद्रष्टा होने के कारण दोनों ऋषि कहलाये। (ऐतरेय ब्राह्मण 2/19) (2) क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राजा विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बने। (महाभारत, अनुशासन 3/1-2 तथा रामायण बाल काण्ड में) (3) अज्ञात कुल के सत्यकाम जाबाल ब्रह्मवादी ऋषि बने। (छान्दोग्य उप० 4/4-6) (4) चण्डाल के घर में उत्पन्न 'मातंग' एक ऋषि कहलाये। (महाभारत, अनु० अ० 3) (5) (कुछ कथाओं के अनुसार वाल्मीकि-रामायण के अनुसार नहीं) निम्न कुल में उत्पन्न वाल्मीकि, महर्षि वाल्मीकि की पदवी को प्राप्त कर गये। (स्कन्द पुराण, वै. 21) (6) दासीपुत्र विदुर राजा धृतराष्ट्र के महामन्त्री बने और महात्मा कहलाये। (महाभारत आदि पर्व 100, 101 अध्याय) इसके विपरीत कर्मों के ही कारण (7) पुलस्त्य ऋषि का वंशज

---

1. **शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुः, मृदुवागनहंकृतः।**
ब्राह्मणद्याश्रयो नित्यम्, उत्तमां जातिमश्नुते॥ *(9/335)*

लंकाधिपति रावण 'राक्षस' कहलाया। (वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड) (8) राम के पूर्वज रघु का 'प्रवृद्ध' नामक पुत्र नीच कर्मों के कारण क्षत्रियों से बहिष्कृत होकर 'राक्षस' बना। (9) राजा त्रिशंकु चण्डालभाव को प्राप्त हुआ। (10) विश्वामित्र के कई पुत्र शूद्र कहलाये और कई क्षत्रिय रहे जो बाद में ब्राह्मण बन गये। व्यक्तिगत उदाहरणों के अतिरिक्त, इतिहास में पूरी जातियों का अथवा जाति के पर्याप्त भाग का वर्णपरिवर्तन भी मिलता है। महाभारत और मनुस्मृति में (10/43-44) कुछ पाठभेद के साथ पाये जाने वाले श्लोकों से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित जातियाँ (समुदाय) पहले क्षत्रिय थीं किन्तु अपने क्षत्रिय कर्तव्यों के त्याग के कारण और ब्राह्मणों द्वारा बताये प्रायश्चित्त न करने के कारण वे शूद्रकोटि में परिगणित हो गईं। वे जातियाँ हैं—पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद, खश।[1] महाभारत अनु. 35/17-18 में इन समुदायों में इनके अतिरिक्त मेकल, लाट, कान्वशिरा, शौण्डिक, दार्व, चौर, शबर, बर्बर जातियों का भी उल्लेख है। बाद तक भी वर्णपरिवर्तन के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। जे. विलसन और एच.एल. रोज के अनुसार राजपूताना, सिन्ध और गुजरात में पोखरना या पुष्करण ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिला के आमताड़ा के पाठक और महावर राजपूत वर्णपरिवर्तन से निम्न जाति से ऊँची जाति के बने (देखिए हिन्दी विश्वकोश, भाग 4 में वर्ण शब्द)। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और दलित जातियों में समान रूप से पाये जाने वाले अनेक गोत्र भी यह सिद्ध करते हैं कि वे सभी एक ही मूल परिवारों के वंशज हैं क्योंकि गोत्र एक ही रहता है। कालक्रमानुसार व्यवसाय और जन्म के आधार पर उनकी जाति रूढ़ हो गयी।

मनुस्मृति में वर्णित वर्णव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व हैं—गुण, कर्म, योग्यता। मनु व्यक्ति अथवा वर्ण को महत्व और आदर-सम्मान नहीं देते अपितु व्यक्ति के गुणों को देते हैं। जहाँ इनका आधिक्य है, उस व्यक्ति

1. **शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः।**
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः।
पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराताः दरदा खशाः॥ *(10/43-44)*

और वर्ण का महत्व तथा आदर-सम्मान अधिक है, न्यून होने पर न्यून है। आज तक संसार की कोई भी सभ्य व्यवस्था इन तत्त्वों को न नकार पाई है और न नकारेगी। वर्तमान में निश्चित सर्वसमानता का दावा करने वाली साम्यवादी व्यवस्था भी इन तत्त्वों से स्वयं को पृथक् नहीं रख सकी। उसमें भी गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार पद और सामाजिक स्तर हैं। उन्हीं के अनुरूप वेतन, सुविधा और सम्मान में अन्तर है। हमारी आजकल की प्रशासनिक और व्यावसायिक व्यवस्था की तुलना करके देखिए, मनु की बात आसानी से समझ आ जायेगी और ज्ञात होगा कि मनु की और आज की इन व्यवस्थाओं में मूलभूत समानता है। सरकार की प्रशासन व्यवस्था में चार वर्ग हैं—1. प्रथम श्रेणी राजपत्रित अधिकारी, 2. द्वितीय श्रेणी राजपत्रित अधिकारी, 3-4 तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी। इनमें प्रथम दो वर्ग अधिकारी हैं, दूसरे कर्मचारी। यह विभाजन गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर है और इसी आधार पर इनका महत्व, सम्मान, वेतन एवं अधिकार हैं। इन पदों के लिए योग्यताओं का प्रमाणीकरण पहले भी शिक्षासंस्थान (गुरुकुल, आश्रम, आचार्य) करते थे और आज भी शिक्षासंस्थान (विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि) ही करते हैं। शिक्षा का कोई प्रमाणपत्र नहीं होने से, अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति सेवा और शारीरिक श्रम के ही कार्य करता है और यह अन्तिम कर्मचारी श्रेणी में आता है। पहले भी जो गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त नहीं करता था, वह इसी स्तर के कार्य करता था और उसकी संज्ञा 'शूद्र' थी। शूद्र के अर्थ हैं—'निम्न स्थिति वाला', 'आदेशवाहक', 'सेवक' आदि। नौकर, चाकर, सेवक, प्रेष्य, सर्वेंट, अर्दली, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आदि संज्ञाओं में कितनी अर्थसमानता है, आप स्वयं देख लीजिए। 'शूद्र' के निर्वचनाधारित अर्थ हैं—'शु द्रवति इति' = जो स्वामी के आदेशानुसार इधर-उधर आने-जाने का कार्य करता है। 'शोच्यां स्थितिमापन्न:' = जो अपनी निम्नतम स्थिति से चिन्तित रहता है कि मैं सबसे पीछे क्यों रह गया। इन अर्थों में कोई घृणा का भाव नहीं है।

मनुस्मृति में शूद्र सम्मान : मनुस्मृति के अन्त:साक्ष्यों पर दृष्टिपात करने पर हमें कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आधारभूत तथ्य उपलब्ध होते हैं जो शूद्रों के विषय में मनु की भावनाओं का संकेत देते हैं। वे इस प्रकार हैं—

आजकल की दलित, पिछड़ी और जनजाति कही जाने वाली जातियों को मनुस्मृति में कहीं 'शूद्र' नहीं कहा गया है। मनु द्वारा दी गयी शूद्र की परिभाषा भी आज की दलित और पिछड़ी जातियों पर लागू नहीं होती। मनुकृत शूद्र की परिभाषा है—जिनका ब्रह्मजन्म = विद्याजन्म रूप दूसरा जन्म होता है, वे 'द्विजाति' ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं। जिनका किसी भी कारण से ब्रह्मजन्म नहीं होता वह '**एकजाति**' रहनेवाला शूद्र है।' अर्थात् जो बालक निर्धारित समय पर गुरु के पास जाकर संस्कारपूर्वक वेदाध्ययन और अपने वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करता है, वह उसका 'विद्याजन्म' नामक दूसरा जन्म है, जिसे शास्त्रों में 'ब्रह्मजन्म' कहा गया है। जो जानबूझकर या मंदबुद्धि होने के कारण अथवा अयोग्य होने के कारण विद्याध्ययन और उच्च तीन द्विज वर्णों में से किसी भी वर्ण की शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त करता, वह अशिक्षित व्यक्ति 'एकजाति = एक जन्म वाला' अर्थात् शूद्र कहलाता है, चाहे वह किसी कुल में उत्पन्न हुआ हो। इसके अतिरिक्त उच्च वर्णों में एक बार दीक्षित होकर भी जो धारित वर्ण के निर्धारित कर्मों को नहीं करता, वह भी शूद्र आदि हो जाता है (मनु० 2/126, 168, 170, 172; 4/245; 10/4 आदि)।[1] इस विषयक एक-दो प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः॥ *(मनु० 10/4)*

अर्थात् आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों को 'द्विजाति' कहते हैं, क्योंकि इनका दूसरा विद्याजन्म होता है। चौथा वर्ण एकजाति = केवल माता-पिता से ही जन्म प्राप्त करने वाला और विद्याजन्म न प्राप्त करने वाला 'शूद्र' है। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त आर्यों में पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं है।' इस श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि मनु ने शूद्र सहित चारों वर्णों को 'सवर्ण' और आर्य माना है, चारों से भिन्न को 'असवर्ण'। किन्तु परवर्ती समाज मनुविरुद्ध रूप से शूद्र को असवर्ण कहने लग गया। मनु ने

---

1. **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ *(2/168)*
उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥ *(4/245)*

शिल्प, कारीगरी आदि के कार्य करने वाले लोगों को वैश्य वर्ण के अन्तर्गत माना है (3/64; 9/329; 10/99; 10/120), किन्तु परवर्ती समाज ने उन्हें भी शूद्रकोटि में ला खड़ा कर दिया। दूसरी ओर, मनु ने कृषि, पशुपालन को वैश्यों का कार्य माना है (1/90), किन्तु सदियों से ब्राह्मण और क्षत्रिय भी कृषि-पशुपालन कर रहे हैं। उन्हें वैश्य घोषित नहीं किया। इनको मनु की व्यवस्था कैसे माना जा सकता है? ये सब जातिवादी समाज की अपनी व्यवस्थाएँ हैं, इनको मनु पर थोपना अनुचित है।

अनेक श्लोकों से ज्ञात होता है कि शूद्रों के प्रति मनु की मानवीय सद्भावना थी और वे उन्हें अस्पृश्य, निन्दित अथवा घृणित नहीं मानते थे। मनु ने शूद्रों के लिए 'उत्तम', 'उत्कृष्ट', 'शुचि' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है, ऐसे विशेषणों से प्रयुक्त व्यक्ति कभी 'अस्पृश्य' या 'घृणित' नहीं माना जा सकता (9/335)[1]। शूद्रों को द्विजाति वर्णों के घरों में पाचन, सेवा आदि श्रमकार्य करने का निर्देश दिया है (1/91; 933-335)।[2] किसी द्विज के यहाँ यदि कोई शूद्र अतिथिरूप में आ जाये तो उसे भोजन कराने का आदेश है (3/112)[3] द्विजों को आदेश है कि वे अपने भृत्यों को, जो कि शूद्र होते थे, पहले भोजन कराने के बाद फिर स्वयं भोजन करें (3/116)।[4] क्या आज के वर्णरहित कथित सभ्य समाज में भृत्यों को पहले भोजन कराया जाता है? और उनका इतना ध्यान रखा जाता है? आप स्वयं देखिए कि शूद्रों के प्रति कितना मानवीय, सम्माननीय और कृपापूर्ण दृष्टिकोण था मनु का!

वैदिक वर्णव्यवस्था में परमात्मा पुरुष अथवा ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा, पैर की समानता से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की आलंकारिक उत्पत्ति बतलाई है (1/31)।[5] इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं।

1. **द्रष्टव्य पृ०·····पर टिप्पणी में शुचिरुत्कृष्टशुश्रुषुः।** *(9/335 श्लोक)*
2. **एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।**
   सर्वेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ *(1/9)*
3. **वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथि धर्मिणौ।**
   भोजयेत सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्॥ *(3/112)*
4. **भुक्तवत्सु-अथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।**
   भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥ *(3.116)*
5. द्रष्टव्य पृ० पर टिप्पणी में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्''—मन्त्र।

एक, चारों वर्णों के व्यक्ति परमात्मा की एक जैसी सन्तानें हैं। दूसरा, एक जैसी सन्तानों में कोई अस्पृश्य और घृणित नहीं होता। तीसरा, एक ही शरीर का अंग 'पैर' अस्पृश्य या घृणित नहीं होता है और भारतीय परम्परा में तो वैसे भी घर-समाज में चरण-स्पर्श की परम्परा है। ऐसे श्लोकों के रहते कोई तटस्थ व्यक्ति क्या यह कह सकता है कि मनु की अथवा वैदिक वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों को अस्पृश्य और घृणित माना जाता था?

मनु ने सम्मान के विषय में शूद्रों को विशेष छूट दी है। मनुविहित सम्मान-व्यवस्था में प्रथम तीन वर्णों में अधिक गुणों के आधार पर अधिक सम्मान देने का कथन है जिनमें विद्यावान् सबसे अधिक सम्मान्य है (2/111, 112, 130)।[1] किन्तु शूद्र के प्रति अधिक सद्भाव प्रदर्शित करते हुए उन्होंने विशेष विधान किया है कि द्विज वर्ण के व्यक्ति नब्बे वर्ष के शूद्र को पहले सम्मान दें, जबकि शूद्र अशिक्षित होता है। यह सम्मान पहले तीन वर्णों में किसी को नहीं दिया गया है—

मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः। *(2/137)*

अर्थात् 'नब्बे वर्ष के शूद्र को सभी द्विज पहले सम्मान दें। शेष तीन वर्णों में अधिक गुणी पहले सम्मान का पात्र है।' इसी प्रकार 'न धर्मात् प्रतिषेधनम्' (10/126) अर्थात् 'शूद्रों को धार्मिक कार्य करने का निषेध नहीं है' यह कहकर मनु ने शूद्र को धर्मपालन की स्वतन्त्रता दी है। इस तथ्य का ज्ञान उस श्लोक से भी होता है जिसमें मनु ने कहा है कि 'शूद्र से भी उत्तम धर्म को ग्रहण कर लेना चाहिए' (2/213)।[2] वेदों में शूद्रों को स्पष्टतः यज्ञ आदि करने और वेदशास्त्र पढ़ने का अधिकार दिया है (यजुर्वेद 26/2; ऋग्० 10/53/4; निरुक्त 3/8 आदि)।[3] मनु की प्रतिज्ञा है कि उनकी

---

1. द्रष्टव्य पृ० पर टिप्पणी में 'वित्तं बन्धुर्वयः' श्लोक।
2. **अन्त्यादपि परं धर्मम्।** *(मनु० 2/238)*
3. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः शूद्रायचार्याय स्वायचारणाय च।** *(यजु० 26/2)*

यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्। *(ऋग्वेद 10/53/4)*
पञ्चजनाः चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चमः। *(निरुक्त 3/8)*
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। *(अथर्ववेद 3/5/18)*

मनुस्मृति वेदानुकूल है, अतः वेदाधारित होने के कारण मनु की भी वही मान्यताएँ हैं। यही कारण है कि उपनयन प्रसंग में कहीं भी शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया है; क्योंकि शूद्र तो तब कहाता है, जब कोई उपनयन नहीं कराता। इसी प्रकार शूद्र से दासता कराने अथवा जीविका न देने का कथन मनु के निर्देशों के विरुद्ध है। मनु ने सेवकों, भृत्यों का वेतन, स्थान और पद के अनुसार नियत करने का आदेश राजा को दिया है और यह सुनिश्चित किया है कि उनका वेतन अनावश्यक रूप से न काटा जाये। (7/125-126; 8/216)[1]

मनु की यथायोग्य एवं मनोवैज्ञानिक दण्डव्यवस्था—यह कहना नितान्त अनुचित है कि मनु ने शूद्रों के लिए कठोर दण्डों का विधान किया है और ब्राह्मणों को विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधाएँ प्रदान की हैं। मनु की दण्डव्यवस्था के मानदण्ड हैं—गुण-दोष, और आधारभूत तत्त्व हैं—बौद्धिक स्तर, सामाजिक स्तर, पद, अपराध की प्रकृति और उसका प्रभाव। मनु की दण्डव्यवस्था यथायोग्य है, जो लोकतान्त्रिक और मनोवैज्ञानिक है। यदि मनु वर्णों में गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों को अधिक सम्मान और सामाजिक स्तर प्रदान करते हैं तो अपराध करने पर उन्हें उतना ही अधिक दण्ड भी देते हैं। इस प्रकार मनु की यथायोग्य दण्ड-व्यवस्था में शूद्र को सबसे कम दण्ड है, और ब्राह्मण को सबसे अधिक; राजा को उससे भी अधिक। मनु की यह सर्वसामान्य दण्डव्यवस्था का यह मानदण्ड है, जो सभी दण्डस्थानों पर लागू होता है—

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः, तद्दोषगुणविद्धि सः॥

(8/337-338)

1. **राजा कर्मसुयुक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।**
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः॥ *(7/125)*
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्। *(8/216)*

अर्थात्—'किसी चोरी आदि के अपराध में शूद्र को आठ रुपये दण्ड दिया जाता है तो वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा, ब्राह्मण को चौंसठ गुणा, अपितु उसे एक सौ गुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड करना चाहिए क्योंकि उत्तरोत्तर वर्ण के गुण-दोषों और उनके परिणामों, प्रभावों आदि को भलीभांति समझने वाले हैं।' इसके साथ ही मनु ने राजसभा को आदेश दिया है कि उक्त दण्ड से किसी को छूट नहीं दी जाये, चाहे वह स्वयं राजा, आचार्य, पुरोहित और राजा के पिता-माता ही क्यों न हों अपितु राजा को एक हजार गुणा दण्ड देने का कथन है।[1] राजा दण्ड दिये बिना मित्र को भी न छोड़े और कोई समृद्ध व्यक्ति शारीरिक अपराध दण्ड के बदले में विशाल धनराशि देकर छूटना चाहे तो उसे भी न छोड़े। (8/335, 347)

देखिए, मनु की दण्डव्यवस्था कितनी यथायोग्य मनोवैज्ञानिक, न्यायपूर्ण, व्यावहारिक और प्रभावशाली है। इसकी तुलना आज की दण्डव्यवस्था से करके देखिए, दोनों में अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। आज की दण्डव्यवस्था का नारा है—'कानून की दृष्टि में सब समान हैं।' पहला विरोध तो यही हुआ कि पदस्तर और बौद्धिक स्तर के अनुसार सम्मान-व्यवस्था तो पृथक्-पृथक् हैं और दण्ड एक जैसा। दूसरा, विरोध यह हुआ कि आज का दण्ड यथायोग्य दण्ड नहीं। इसे यों समझिये कि खेत चर जाने पर मेमने को भी एक डण्डा लगेगा, भैंसे, हाथी को भी। इसका प्रभाव क्या होगा? बेचारा मेमना डण्डे के प्रहार से मिमियाने लगेगा, भैंसे में कुछ हलचल होगी, हाथी को दण्ड की कुछ ही अनुभूति होगी, शेर उलटा खाने को दौड़ेगा। क्या यह वास्तव में समान दण्ड हुआ? समान दण्ड तो वह है, जो लोकव्यवहार में प्रचलित है। मेमने को डण्डे से, भैंस को लाठी से, हाथी को अंकुश से और शेर को हण्टर से वश में किया जाता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—एक अत्यन्त गरीब एक हजार रुपयों के दण्ड को कर्ज लेकर चुका पायेगा, मध्यवर्गीय थोड़ा कष्ट अनुभव करके और समृद्ध-सम्पन्न जूती की नोक पर रख देगा। इसी अमनोवैज्ञानिक दण्डव्यवस्था का परिणाम है कि दण्ड की पतली रस्सी में आज गरीब तो

1. **कार्षापणं भवेद्दण्डस्य: यत्रान्य: प्राकृतो जन:।**
तत्र राजा भवेद् दण्ड्य: सहस्त्रमिति धारणा॥ *(8/336)*

फंस जाते हैं, धन-पद-सत्ता-सम्पन्न शक्तिशाली लोग उस रस्सी को तोड़कर निकल भागते हैं। आंकड़े इकट्ठे करके देख लीजिए, स्वतन्त्रता के बाद कितने गरीबों को सजा हुई है, और कितने धन-पद-सत्ता-सम्पन्न लोगों को। आर्थिक अपराधों में समृद्ध लोग अर्थदण्ड भरते रहते हैं, अपराध करते रहते हैं। मनु की यथायोग्य दण्ड-व्यवस्था में ऐसा असन्तुलन नहीं है। मनु की दण्डव्यवस्था अपराध की प्रकृति पर निर्भर है। वे गम्भीर अपराध में यदि कठोर दण्ड का विधान करते हैं तो चारों वर्णों को ही, और यदि सामान्य अपराध में सामान्य दण्ड का विधान करते हैं, तो वह भी चारों वर्णों के लिए सामान्य होता है। शूद्रों के लिए जो कठोर दण्डों का विधान मिलता है वह जन्मना जातिवादियों द्वारा प्रक्षिप्त श्लोकों में है। निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त दण्डनीति के विरुद्ध जो श्लोक मिलते हैं, वे मनुरचित नहीं हैं।

मनुस्मृति में नारी-सम्मान और पुत्र-पुत्री के समान अधिकार— मनुस्मृति के अन्त:साक्ष्य कहते हैं कि मनु की जो स्त्री-विरोधी छवि प्रस्तुत की जा रही है, वह निराधार एवं तथ्यों के विपरीत है। राजर्षि मनु ने मनुस्मृति में स्त्रियों से सम्बन्धित जो व्यवस्थाएँ दी हैं वे सम्मान, सुरक्षा, समानता, सद्भाव और न्याय की भावना से प्रेरित हैं। कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

महर्षि मनु संसार के वह प्रथम राजा और महापुरुष हैं, जिन्होंने नारी के विषय में सर्वप्रथम ऐसा सर्वोच्च आदर्श उद्घोष दिया है, जो नारी की गरिमा, महिमा और सम्मान को असाधारण ऊँचाई प्रदान करता है। श्लोक में वर्णित सम्मान-भावना से बढ़कर नारियों के प्रति सम्मान-भावना और क्या हो सकती है?—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वाः तत्राफलाः क्रियाः॥ *(3/56)*

इसका सही अर्थ है—'जिस परिवार में नारियों का आदर-सम्मान होता है, वहाँ देवता = दिव्य गुण, कर्म, स्वभावयुक्त सन्तानें और दिव्य लाभ आदि प्राप्त होते हैं और जहाँ इनका आदर-सम्मान नहीं होता, वहाँ परिवार में सब कार्यों में और जीवन में असफलता मिलती है।' यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जहाँ नारियों का आदर होता है, उस घर में सन्तानें श्रेष्ठ और सभ्य बनती हैं, जहाँ मार-पिटाई और कलह होता है वहाँ सन्तानें

भी बिगड़ जाती हैं और परिणाम में दुःख प्राप्त होता है।

स्त्रियों के प्रति प्रयुक्त सम्मानजनक एवं सुन्दर विशेषणों से बढ़कर, नारियों के प्रति मनु की भावना का बोध कराने वाले प्रमाण और कोई नहीं हो सकते। वे कहते हैं कि नारियाँ घर का भाग्योदय करने वाली, आदर के योग्य, घर की ज्योति, गृहशोभा, गृहलक्ष्मी, गृहसंचालिका एवं गृहस्वामिनी, घर का स्वर्ग, संसारयात्रा की आधार हैं (9/11, 26, 28; 5/150)। कल्याण चाहने वाले परिवारजनों को स्त्रियों का आदर-सत्कार करना चाहिए, अनादर से शोकग्रस्त रहने वाली स्त्रियों के कारण घर और कुल नष्ट हो जाते हैं। स्त्री की प्रसन्नता में ही कुल की वास्तविक प्रसन्नता है (3/55-62)। इसलिए वे गृहस्थों को उपदेश देते हैं कि परस्पर सन्तुष्ट रहें एक-दूसरे के विपरीत आचरण न करें और ऐसा कोई कार्य न करें जिससे एक-दूसरे से वियुक्त होने की स्थिति आ जाये (9/101-102)। मनु की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए एक श्लोक ही पर्याप्त है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥ *(मनु० 9/26)*

अर्थात्—'सन्तान की उत्पत्ति करके घर का भाग्योदय करने वाली, आदर-सम्मान के योग्य, गृहज्योति होती हैं स्त्रियाँ। शोभा-लक्ष्मी और स्त्री में कोई अन्तर नहीं है, वे घर की प्रत्यक्ष शोभा है।' ध्यान दीजिए—'स्त्रियाँ लक्ष्मी का रूप हैं' यह उक्ति मनु के इस मन्तव्य से ही प्रचलित हुई है।

मनुमत से अनभिज्ञ पाठकों को यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि मनु ही सबसे पहले वह संविधान-निर्माता हैं जिन्होंने पुत्र-पुत्री की समानता को घोषित करके उसे वैधानिक रूप दिया है। देखिए स्पष्ट उद्घोष—'पुत्रेण दुहिता समा' (मनु० 9/130) अर्थात् 'पुत्री पुत्र के समान होती है।'

साथ ही मनु ने पैतृक सम्पत्ति में पुत्र-पुत्री को समान अधिकारी माना है। उनका यह मत मनुस्मृति के 9/130, 192 में वर्णित है। इसे निरुक्त शास्त्र में इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(3/1/4)*

अर्थात्—'सृष्टि के प्रारम्भ में स्वायम्भुव मनु ने यह विधान किया है

कि दायभाग = पैतृक सम्पत्ति में पुत्र-पुत्री का समान अधिकार होता है।' मातृधन में केवल कन्याओं का अधिकार विहित करके मनु ने परिवार में कन्याओं के महत्व में अभिवृद्धि की है (9/131)। स्त्रियों को अबला समझकर कोई भी, चाहे वह बन्धु-बान्धव ही क्यों न हो, यदि स्त्रियों के धन पर कब्जा कर लें, तो उन्हें चोर-सदृश दण्डित करने का आदेश मनु ने दिया है (9/212, 3/52; 8/2; 8/29)। स्त्रियों की सुरक्षा के दृष्टिगत नारियों की हत्या और उनका अपहरण करने वालों के लिए मृत्युदण्ड का विधान करके तथा बलात्कारियों के लिए यातनापूर्ण दण्ड देने के अथवा 'देश-निकाला' का आदेश देकर मनु ने नारियों की सुरक्षा को सुनिश्चित कराने का यत्न किया है (8/323; 9/232; 8/352)। नारियों के जीवन में आने वाली प्रत्येक छोटी-बड़ी कठिनाई का ध्यान रखते हुए मनु ने उनके निराकरण हेतु स्पष्ट निर्देश दिये हैं। पुरुषों को निर्देश है कि वे माता, पत्नी और पुत्री के साथ झगड़ा न करें (4/180)।[1] इन पर मिथ्या दोषारोपण करने वालों, इनको निर्दोष होते हुए त्यागने वालों, पत्नी के प्रति वैवाहिक दायित्व न निभाने वालों के लिए दण्ड का विधान है (8/275, 389, 9/4)।

विवाह के विषय में मनु के आदर्श विचार हैं। मनु ने शिक्षाप्राप्त कन्याओं को योग्य पति का स्वयं वरण करने का निर्देश देकर 'स्वयंवर विवाह' का अधिकार एवं उसकी स्वतन्त्रता दी है (9/90-91)। विधवा को पुनर्विवाह का भी अधिकार दिया है, साथ ही सन्तानप्राप्ति के लिए नियोग की भी छूट है (9/176, 9/56-63)। उन्होंने विवाह को कन्याओं के आदर-स्नेह का प्रतीक बताया है, अतः विवाह में किसी भी प्रकार के लेन-देन को अनुचित बताते हुए बल देकर उसका निषेध किया है (3/51-54)। स्त्रियों के सुखी जीवन की कामना से उनका सुझाव है कि जीवनपर्यन्त अविवाहित रहना श्रेयस्कर है, किन्तु गुणहीन, दुष्ट पुरुष से विवाह नहीं करना चाहिए (9/89)।[2]

---

1. **माता-पितृभ्यां""भार्यया, दुहित्रा विवादं न समाचरेत्।** *(4/180)*
   मातरं पितरं जायां""आक्षारयन् शतं दण्ड्यः। *(8/180)*
2. **काममामरणात् तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।**
   न चैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ *(9/89)*

विश्व के सभी धर्मों में से केवल वैदिक धर्म में और सभी देशों में से भारतवर्ष में स्त्रियों को पुरुष के कार्यों में जो सहभागिता प्राप्त है वह अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। यहाँ का कोई भी धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक आयोजन–अनुष्ठान स्त्री को साथ लिये बिना सम्पन्न नहीं होता। यही मनु की मान्यता है। इसलिए धर्मानुष्ठान के प्रबन्ध का दायित्व स्त्री को सौंपा है और उसकी सहभागिता से ही प्रत्येक अनुष्ठान करने का निर्देश दिया है (9/11, 28, 96)।[1] वैदिक काल में स्त्रियों को वेदाध्ययन, यज्ञोपवीत, यज्ञ आदि के सभी अधिकार प्राप्त थे। वे ब्रह्मा के पद को सुशोभित करती थीं। उच्च शिक्षा प्राप्त करके मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाएँ बनती थीं। वेदों को धर्म में परम प्रमाण मानने वाले ऋषि मनु वेदानुसार स्त्रियों के सभी धार्मिक अधिकारों तथा उच्च शिक्षा के समर्थक हैं। तभी उन्होंने स्त्रियों के अनुष्ठान मन्त्रपूर्वक करने और धर्मकार्यों का अनुष्ठान स्त्रियों के अधीन घोषित किया है (2/4; 3/28)।[2]

'लेडिज फस्ट' की सभ्यता के प्रशंसकों को यह पढ़कर और अधिक प्रसन्नता होनी चाहिए कि मनु ने सभी को यह निर्देश दिया है कि 'स्त्रियों के लिए पहले रास्ता छोड़ दें।'[3] नवविवाहितों, कुमारियों, रोगिणी, गर्भिणी, वृद्धा आदि स्त्रियों को पहले भोजन कराके फिर पति–पत्नी को साथ भोजन करने का कथन है (2/138; 3/114, 116)। मनु के ये सब विधान स्त्रियों के प्रति सम्मान और स्नेह के द्योतक हैं तथा उच्च सभ्यता के प्रतीक हैं।

यहाँ प्रसंगवश यह स्पष्ट कर देना उपयोगी रहेगा कि मनु गुणों के प्रशंसक हैं और अवगुणों के निन्दक हैं। गुणियों को सम्मानदाता हैं, अवगुणियों को दण्डदाता हैं। यदि उन्होंने गुणवती स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान दिया है, तो अवगुणवती और कर्तव्यपालन न करने वाली स्त्रियों की निन्दा भी की है और उनके लिए दण्ड का विधान किया है। मनु की एक

---

1. **अपत्यं धर्मकार्याणि''''दाराधीनः।** *(9/28)*
   शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाहचस्य वेक्षणे। *(9/11)*
2. **मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।**
   प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥ *(5/152)*
3. **स्त्रियाः''''पंथा देयः।** *(2/138)*

विशेषता और है, वह यह है कि वे नारी की असुरक्षित तथा अमर्यादित स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं हैं और न ही उन बातों का समर्थन करते हैं जो परिणाम में अहितकर हैं। इसीलिए उन्होंने स्त्रियों को चेतावनी देते हुए सचेत किया है कि वे स्वयं को पिता, पति, पुत्र आदि की सुरक्षा से अलग न करें, क्योंकि एकाकी रहने से दो कुलों की निन्दा होने की आशंका रहती है (5/149; 9/5-6)। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनु स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विरोधी हैं। इसका निहितार्थ यह है कि नारी की सर्वप्रथम सामाजिक आवश्यकता है 'सुरक्षा' की। वह सुरक्षा उसे चाहे शासन-कानून प्रदान करे अथवा कोई पुरुष या स्वयं का सामर्थ्य। भोगवादी आपराधिक प्रवृत्तियाँ उसके स्वयं के सामर्थ्य को सफल नहीं होने देतीं! उदाहरणों से पता चलता है कि शस्त्रधारिणी डाकू स्त्रियों तक को भी पुरुष-सुरक्षा की आवश्यकता रही है। मनु के उक्त कथन को आज की राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखना भी सही नहीं है। आज देश में एक शासन है और कानून उसका रक्षक है। फिर भी हजारों नारियाँ प्रतिदिन अपराधों की शिकार होती हैं और कुछ जीवन की बर्बादी की राह पर चलने को विवश हैं। प्रतिदिन बलात्कार, नारी-हत्या, वेश्याकर्म के लिए विवश करना जैसे जघन्य अपराधों की हजारों घटनाएँ होती रहती हैं। जब राजतन्त्र में उथल-पुथल होती रहती है, कानून शिथिल पड़ जाते हैं, रक्षक कोई अपना नहीं होता, तब क्या परिणाम होगा? उस स्थिति की कल्पना करके मनु के वचनों के महत्व को आंककर देखना चाहिए। तब मानना पड़ेगा कि वे शतप्रतिशत सही हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति की व्यवस्थाएँ स्त्री-शूद्रविरोधी नहीं हैं, वे न्यायपूर्ण और पक्षपातरहित हैं। मनु ने कुछ भी ऐसा नहीं कहा जो निन्दा अथवा आपत्ति के योग्य हो।

बिना भेदभाव सबके लिए शिक्षा प्राप्ति के पक्षधर महर्षि मनु— मनु आदि युग के 'सबके लिए शिक्षा और सबके लिए अनिवार्य शिक्षा के समर्थक एवं प्रेरक महर्षि थे। इस तथ्य की पुष्टि मनुस्मृति के एक महत्वपूर्ण अन्त:प्रमाण से हो जाती है। इस प्रमाण के समक्ष कोई दूसरा प्रमाण महत्वपूर्ण नहीं है। पाठक तटस्थ भाव से इस प्रमाण पर चिन्तन करें

और फिर देखें कि मनु शिक्षा के कितने प्रबल पक्षधर थे। मनु पृथ्वी के (विश्व के) सभी मानवों का शिक्षाप्राप्ति के लिए खुला आह्वान करते हुए कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ *(2/20)*

अर्थात् 'पृथिवी पर निवास करने वाले सभी मनुष्यो! आओ, और इस देश में उत्पन्न विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणों से अपने-अपने कर्तव्यों, आचरणों अथवा अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त करके विद्वान बनो, सुशिक्षित नागरिक बनो।'

महर्षि मनु का कितना महान आह्वान है! इसमें न ब्राह्मण, शूद्र आदि वर्णों का भेद है, न आर्य-अनार्य का भेद है, न स्वदेशी-विदेशी का अन्तर और न स्त्री-पुरुष का भेदभाव है। वे मानव मात्र का समान भाव से आह्वान कर रहे हैं। क्योंकि वे शिक्षा के महत्व को समझते हैं कि शिक्षा के बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता, वह उन्नति नहीं कर सकता, परिवार-समाज का कल्याण नहीं हो सकता, राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता, इसलिए मनु के मत में शिक्षा का सर्वोच्च महत्व था और सभी के लिए शिक्षा आवश्यक थी। उसकी ओर से शिक्षा प्राप्ति के लिए कोई बन्धन नहीं है, बस, कोई भी शिक्षा प्राप्ति का इच्छुक होना चाहिए, चाहे वह पृथ्वी के किसी भाग का निवासी हो, और कोई भी हो। शिक्षा के प्रति इतना उदार भाव रखने वाले राजर्षि से क्या यह आशा की जा सकती है कि वह किसी को शिक्षा से वञ्चित करेगा? कदापि नहीं। यदि कोई शिक्षा से वञ्चित करने के या प्रतिबन्ध डालने के वचन वर्तमान मनुस्मृति में पाये जाते हैं तो वे उक्त आह्वान करने वाले मनु स्वायम्भुव के नहीं हो सकते। क्योंकि ऋषियों या विद्वानों के कथनों में परस्पर विरोध नहीं होता। हाँ, वे किसी परवर्ती स्वार्थी और पक्षपाती जातिवादी के कथन हो सकते हैं, जो स्वार्थपूर्ति के लिए प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं।

महर्षि मनु शिक्षा को सर्वोच्च महत्व देते थे और वर्णव्यवस्था में उसे आवश्यक मानते थे। इसका एक ठोस प्रमाण वह है जहाँ शिक्षा प्राप्ति न करने वालों के विषय में मनु ने कठोर विधान किया है। मनु कहते हैं कि

अधिकतम निर्धारित आयुसीमा तक भी जो बालक या युवक शिक्षा प्राप्त्यार्थ उपनयन संस्कार नहीं करायेगा, वह आर्य वर्णव्यवस्था से बहिष्कृत हो जायेगा। उसके वैधानिक अधिकार नहीं रहेंगे (मनु० 2/38-40)। यह सबके लिए अनिवार्य शिक्षा का आदेश है। ऐसा उदार महर्षि किसी को शिक्षा से वञ्चित करने का विचार भी नहीं कर सकता।

ऊपर कुछ मान्यताओं को मनुस्मृति के श्लोकों के आधार पर ही दिग्दर्शन कराया गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक मान्यताएँ हैं जिनका मौलिक रूप मनुस्मृति में प्राप्त है। ये पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध मान्यताएँ हैं। इनके विपरीत पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध जो मान्यताएँ हैं वे मनु की मौलिक नहीं हैं। समय-समय पर बदली हुई सामाजिक व्यवस्था और अवधारणा के अनुसार उनको तत्कालीन लोगों ने मनुस्मृति में प्रक्षिप्त किया है, अतः उनको मनु की मौलिक मान्यताएँ नहीं कहा जा सकता। उनसे मनुस्मृति और मनुस्मृति-कालीन सभ्यता-संस्कृति, इतिहास और व्यवस्था का स्वरूप विकृत और परिवर्तित हुआ है, अतः वे महर्षि मनु के नाम पर ग्राह्य नहीं हैं।

3

मनुस्मृति में प्रक्षेप : प्रमाण और दुष्परिणाम

डॉ० सुरेन्द्रकुमार
(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

'प्रक्षेप', 'क्षेपक' अथवा 'प्रक्षिप्त' शब्द का अर्थ है—मिलावट। किसी के ग्रन्थ में किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उसकी सहमति-स्वीकृति के बिना मिलाये गये विचारों को 'प्रक्षेप' कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि 'प्रक्षेप' विरोधी विचारयुक्त ही हो, वह समर्थक विचारमुक्त भी हो सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं, ऐसे लोग या तो पूर्वाग्रही होकर अथवा गम्भीर अध्ययन से रहित होने के कारण यह बात कहते हैं, क्योंकि मनुस्मृति में परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी विचारों की भरमार है। ये दोष किसी एक व्यक्ति और वे भी किसी ऋषि-स्तर के व्यक्ति के लेखन में नहीं हो सकते। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रमाण भी हैं जो प्रक्षेपों के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रक्षेप की प्रवृत्ति का इतिहास

प्राचीन भारतीय साहित्य की यह एक प्रमाणित ऐतिहासिक सच्चाई है कि उसमें समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। इस विषयक पाण्डुलिपीय और लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हैं तथा अन्त:साक्ष्य भी। अत: अब यह विषय विवाद का नहीं रह गया है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों पर विचार करने से पूर्व अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रक्षेप-विषयक इतिहास पर एक दृष्टिपात किया जाता है जिससे पाठकों को प्रक्षिप्तता की सत्यता की अनवरत प्रवृत्ति का ज्ञान हो सके। ठीक ऐसी ही स्थिति मनुस्मृति की रही है।

(अ) वाल्मीकीय रामायण— पाठभेद से वाल्मीकीय रामायण के

आज तीन संस्करण मिलते हैं—1. दाक्षिणात्य, 2. पाश्चमोत्तरीय, 3. गौडीय या पूर्वीय। इन तीनों संस्करणों में अनेक सर्गों और श्लोकों का अन्तर है। गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित दाक्षिणात्य संस्करण में अभी भी अनेक ऐसे सर्ग समाविष्ट हैं, जो मूलपाठ के साथ घुल-मिल नहीं पाये, अत: अभी तक उन पर 'प्रक्षिप्तः सर्गः' लिखा मिलता है (द्रष्टव्य एक उदाहरण—उत्तरकाण्ड के 59 सर्ग के पश्चात् दो सर्ग)।

नेपाल की राजधानी काठमाण्डू स्थित राष्ट्रीय अभिलेखागार में नेवारी लिपि में वाल्मीकीय रामायण की एक पाण्डुलिपि सुरक्षित है जो लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है। उसमें वर्तमान संस्करणों से सैकड़ों श्लोक कम हैं। स्पष्टत: वे इधर के एक हजार वर्षों की अवधि में मिलाये गये हैं। समीक्षकों का मत है कि वर्तमान रामायण में प्राप्त बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के अधिकांश भाग प्रक्षिप्त हैं। आज भी रामायण के आरम्भ में तीन अनुक्रमणिकाएँ प्राप्त हैं, जो समयानुसार परिवर्धित प्रसंगों की पोषक हैं। उनमें से एक में तो स्पष्टत: 'षट्काण्डानि' कहा है (4/2)। अवतार विषयक श्लोक अवतार की धारणा पनपने के उपरान्त प्रक्षिप्त हुए।

एक बौद्ध ग्रन्थ का प्रमाण प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। बौद्ध साहित्य में एक 'अभिधर्म महाविभाषा' ग्रन्थ मिलता था। इसका तीसरी शताब्दी का चीनी अनुवाद उपलब्ध है। उसमें एक स्थान पर उल्लेख है कि 'रामायण में बारह हजार श्लोक हैं' (डॉ० फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृ० 94)। जबकि आज उसमें पच्चीस हजार श्लोक पाये जाते हैं। यह एक संक्षिप्त विवरण है यह दर्शाने के लिए कि प्राचीन ग्रन्थों में किस प्रकार प्रक्षेप होते रहे हैं।

(आ) महाभारत—महाभारत के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रमाण उद्धृत करने जा रहा हूँ। यह इस तथ्य की जानकारी दे रहा है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व महाभारत में होने वाले प्रक्षेपों के विरुद्ध तत्कालीन साहित्य में आवाज उठी थी। यह प्रमाण इस बात का भी ज्वलन्त प्राचीन साक्ष्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रक्षेप बहुत पहले से होते आ रहे हैं। '**गरुड़ पुराण**' (तीसरी शती) का निम्नलिखित श्लोक अमूल्य प्रमाण है जो यह बताता है कि दूसरी संस्कृति के जो लोग वैदिक संस्कृति में

सम्मिलित हुए थे उन्होंने अपने स्वार्थ-साधन के लिए भारतीय ग्रन्थों में प्रक्षेप किये हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस बात को एक पुराण कह रहा है जिनमें स्वयं प्रक्षेपों की भरमार है या जो महर्षि व्यास के नाम पर स्वयं प्रक्षेप के प्रतिरूप हैं—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा,
कलौ युगे भारते षट् सहस्त्र्याम्।
निष्कास्य कांश्चित् नवनिर्मितानां
निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥ *(ब्रह्मकाण्ड 1/59)*

अर्थात्—'इस कलियुग में महाभारत में परिवर्तन-परिवर्धन किया जा रहा है। दैत्यवंशी लोग स्वयं को ब्राह्मण कुल का बताकर कुछ श्लोकों को निकाल रहे हैं और उनके स्थान पर नये-नये श्लोक स्वयं रचकर डाल रहे हैं।'

इसी प्रकार की एक जानकारी '**महाभारत**' में भी दी गयी है कि स्वार्थी लोगों ने वैदिक परम्पराओं को विकृत कर दिया है और उसके लिए उन्होंने ग्रन्थों से छेड़छाड़ की है। महाभारतकार की पीड़ा देखिए—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसम्, आसवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते॥
अव्यवस्थित मर्यादैः विमूढैर्नास्तिकैः नरैः।
संशयात्ममिरव्यक्तैः हिंसा समनुवर्णिता॥

(शान्तिपर्व 265/9, 4)

अर्थात्—मदिरासेवन, मत्स्यभोजन, पशुमांस, आसव, लवणान्न की आहुति, इनका विधान वेदों में (वैदिक संस्कृति में) नहीं है। यह सब धूर्त लोगों ने प्रचलित किया है। मर्यादाहीन, मद्य-मांसादि लोलुप, नास्तिक, आत्मा-परमात्मा के प्रति संशयग्रस्त लोगों ने गुपचुप तरीके से वैदिक ग्रन्थों में हिंसा-सम्बन्धी वर्णन मिला दिये हैं।

महाभारत महाकाव्य की कलेवर वृद्धि का इतिहास वर्तमान महाभारत में स्वयं वर्णित किया गया है। महाभारत युद्ध के बाद महर्षि व्यास ने जो काव्य लिखा उसका नाम 'जय काव्य' था—**जयो नामैतिहासोऽयम्।** (महा० आदि० 1/2, 62/20) और उसमें छह या आठ हजार श्लोक थे—

अष्टौ श्लोकसहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च। (आदिपर्व० 2/131, 269)। व्यासशिष्य वैशम्पायन ने इसको बढ़ाकर 24,000 श्लोक का काव्य बना दिया और इसका नाम 'भारत संहिता' दिया—**चतुर्विंशती साहस्त्रीं चक्रै भारत संहिताम्।** (आदिपर्व 1/102)। सौति ने इसमें परिवर्धन करके इसे एक लाख श्लोकों का बना दिया और इसका नाम 'महाभारत' रखा—**शत साहस्त्रमिदं काव्यं मयोक्तं श्रूयतां हि वः।** (आदि० 1/108)। यह 'जय' काव्य से 'महाभारत' बनाने की यथार्थ कथा है। लोग अपना पृथक् स्वतन्त्र काव्य बनाने की बजाय उसी में वृद्धि करते गये। इससे महाभारत की प्रामाणिकता का ह्रास हुआ है और ऐतिहासिकता विनष्ट हो गयी है।

गीता—गीता महाभारत का ही अंश है। उसकी वर्तमान विशालता व्यावहारिक नहीं है। युद्धभूमि में कुछ मिनटों के लिए दिया गया उपदेश न तो इतना विशाल हो सकता है और न अवसर के अनुकूल। यदि उसको संक्षेप का विस्तार कहा जाये तो वह कृष्ण प्रोक्त मौलिक प्रवचन नहीं रह जायेगा। प्रत्येक दृष्टि से वह परिवर्धित रूप है। वह व्यासकृत भी नहीं है बाद का परिवर्धन है।

निरुक्त—आचार्य यास्ककृत निरुक्त के 13-14 अध्यायों के विषय में समीक्षकों का यह मत है कि वे अभाव की पूर्ति के लिए बाद में जोड़े गये हैं। उन सहित निरुक्त 'परिवर्धित संस्करण' है जो शिष्य-परम्परा द्वारा रचित है।

चरकसंहिता—महर्षि अग्निवेश प्रणीत चरकसंहिता में भी उनके शिष्यों ने अन्तिम अध्यायों का कुछ भाग अभाव की पूर्ति की दृष्टि से संयुक्त किया है। किन्तु वहाँ अच्छी बात यह है कि यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि यह भाग अमुक व्यक्ति द्वारा रचित है। फिर भी इससे परिवर्धन की प्रवृत्ति-परम्परा और इतिहास की जानकारी मिलती है।

मनुस्मृति—इसी प्रकार मनुस्मृति में भी समय-समय पर प्रक्षेप हुए प्रक्षेपो के प्रमाण हैं। अपितु, मनुस्मृति में अधिक प्रक्षेप हुए हैं क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारी दैनंदिन जीवनचर्या से था और वह जीवन व समाज का विधिग्रन्थ था। उससे जीवन व समाज सीधा प्रभावित होता था अत: उसमें परिवर्तन भी वांछनीय बन जाता था। जैसे, भारत के संविधान में

छियासी के लगभग संशोधन आज तक की आधी शती में हो चुके हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति में निम्नलिखित प्रमुख कारणों के आधार पर परिवर्तन-परिवर्धन किये जाते रहे—

1. अभाव की पूर्ति के लिए, 2. स्वार्थ की पूर्ति के लिए, 3. गौरववृद्धि के लिए, 4. विकृति उत्पन्न करने के लिए।

ये प्रक्षेप (परिवर्तन या परिवर्धन) अधिकांश में स्पष्ट दीख जाते हैं। महर्षि मनु सदृश धर्मज्ञ और विधि प्रदाता की रचना में रचनादोष नहीं हो सकते, किन्तु प्रक्षिप्तों के कारण दोष आ गये हैं। वे प्रक्षिप्त कहीं विषयविरुद्ध, कहीं प्रसंगविरुद्ध, कहीं परस्परविरुद्ध, कहीं शैलीविरुद्ध रूप में दीख जाते हैं। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली-6 से प्रकाशित मेरे शोध और भाष्ययुक्त संस्करण में मैंने उनकी पहचान निम्नलिखित सात साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर की है। वे हैं—

1. विषयविरोध, 2. प्रसंगविरोध, 3. परस्परविरोध, 4. अवान्तरविरोध, 5. पुनरुक्ति, 6. शैलीविरोध, 7. वेदविरोध।

प्रक्षिप्तानुसन्धान के इन तटस्थ साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर मनुस्मृति के उपलब्ध 2685 श्लोकों में से 1471 प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं और 1214 मौलिक। विस्तृत समीक्षा के लिए मनुस्मृति का उक्त संस्करण पठनीय है। उसमें प्रत्येक प्रक्षिप्त सिद्ध श्लोक पर उसकी समीक्षा में प्रक्षेप का कारण मानदण्ड रूप में दर्शाया गया है। उस मानदण्ड को कोई पाठक स्वयं लागू करके देख सकता है।

मनुस्मृति में प्रक्षेप होने की पुष्टि अधोवर्णित लिखित प्रमाण भी करते हैं। और प्राय: सभी वर्गों के विद्वानों के मत भी करते हैं। पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध हैं—

(क) मनुस्मृति— भाष्यकार मेधातिथि (9वीं शताब्दी) की तुलना में कुल्लूक भट्ट (12वीं शताब्दी) के संस्करण में एक सौ सत्तर श्लोक अधिक उपलब्ध हैं। वे तब तक मूल पाठ के साथ घुल-मिल नहीं पाये थे, अत: उनको कुल्लूक भट्ट के संस्करण में बृहत् कोष्ठक में दर्शाया गया है। अन्य प्राचीन टीकाओं में भी सभी में कुछ-कुछ श्लोकों और पाठों का अन्तर है।

(ख) मेधातिथि के भाष्य के अन्त में एक श्लोक मिलता है, जिससे

यह जानकारी मिलती है कि मनुस्मृति और उसका मेधातिथि भाष्य लुप्तप्रायः था। उसको विभिन्न संस्करणों की सहायता से सहारण राजा के पुत्र राजा मदन ने पुनः संकलित कराया। ऐसी स्थिति में श्लोक में क्रमविरोध, स्वल्पाधिक्य हो जाना सामान्य बात है—

मान्या कापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्यापि मेधातिथेः।
सा लुप्तैव विधेर्वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न तत्पुस्तकम्।
क्षोणीन्द्रो मदनः सहारणसुतो देशान्तरादाहृतैः,
जीर्णोद्धारमचीकरत्तत इतस्तत्पुस्तकैः लेखितैः॥

(उपोद्‌घात, मेधातिथि भाष्य, गंगानाथ झा, खण्ड 3, पृ० 1)

अर्थात्—'समाज में मान्य कोई मनुस्मृति थी, उस पर मेधातिथि का भाष्य भी था किन्तु वह दुर्भाग्य से लुप्त हो गयी। वह कहीं उपलब्ध नहीं थी। सहारण के पुत्र राजा मदन ने विभिन्न प्रदेशों से उसके संस्करण मँगाकर उसका जीर्णोद्धार कराया और विभिन्न पुस्तकों से मिलाकर यह भाष्य तैयार कराया।'

मनुस्मृति के स्वरूप में परिवर्तन का यह बहुत महत्वपूर्ण प्रमाण है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में गत शती में सर्वप्रथम यह सुस्पष्ट घोषणा की थी कि मनुस्मृति में अनेक प्रक्षेप किये गये हैं, ऐसे जैसे कि ग्वाले दूध में पानी की मिलावट करते हैं। उन्होंने कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का कारणपूर्वक दिग्दर्शन भी कराया है। उन्होंने घोषणा की थी कि मैं प्रक्षेपरहित मनुस्मृति को ही प्रमाण मानता हूं (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ग्रन्थ प्रामाण्य विषय)।

(घ) सम्पूर्ण भारतीय प्राचीन साहित्य में प्रक्षिप्तों के होने के यथार्थ को सुप्रसिद्ध सनातनी आचार्य स्वामी आनन्दतीर्थ 'महाभारत तात्पर्यार्थ निर्णय' में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं—

क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति क्वचिदन्तरितानपि,
कुर्युः क्वचिच्च व्यत्यांसं प्रमादात् क्वचिदन्यथा।
अनुत्सन्नाः अपि ग्रन्थाः व्याकुलाः सन्ति सर्वशः,
उत्सन्नः प्रायशः सर्वे, कोट्यंशोऽपि न वर्तते॥ *(अ० 2)*

अर्थ—कहीं ग्रन्थों में प्रक्षेप किया जा रहा है, कहीं मूल वचनों को

बदला जा रहा है, कहीं आगे-पीछे किया जा रहा है, कहीं प्रमादवश अशुद्ध लेखन हो रहा है जो ग्रन्थ नष्ट होने से बच गये हैं वे काट-छाँट की इन पीड़ाओं से व्याकुल हैं (क्षत-विक्षत हैं)। अधिकांश ग्रन्थों को नष्ट किया जा चुका है। अब तो साहित्य का करोड़वां भाग भी नहीं बचा है।' यही स्थिति मनुस्मृति की हुई है।

चीन में प्राप्त पुरातात्विक प्रमाण—विदेशी प्रमाणों में मनुस्मृति के काल तथा श्लोक संख्या सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध करानेवाला एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण हमें चीनी भाषा के हस्तलेखों में मिलता है। सन् 1932 में जापान ने बम विस्फोट द्वारा जब चीन की ऐतिहासिक दीवार को तोड़ा तो उसमें लोहे का एक ट्रंक मिला जिसमें चीनी पुस्तकों की प्राचीन पाण्डुलिपियाँ भरी थीं। वे हस्तलेख सर ऑगुत्स फ्रित्स जॉर्ज को मिल गये। वह उन्हें लंदन ले आया और उनको ब्रिटिश म्यूजियम में रख दिया।

उन हस्तलेखों को प्रो. एन्थनी ग्रेमे (Prof. Anthony Graeme) ने चीनी भाषा के विद्वानों से पढ़वाया। उनसे यह जानकारी मिली कि चीन के राजा चिन-इज-वांग (Chin-Ize-Wang) ने अपने शासनकाल में यह आज्ञा दे दी थी कि सभी प्राचीन पुस्तकों को नष्ट कर दिया जाये जिससे चीनी सभ्यता के सभी प्राचीन प्रमाण नष्ट हो जायें। तब उनको किसी विद्याप्रेमी ने ट्रंक में छिपा लिया और दीवार बनते समय उस ट्रंक को दीवार में चिनवा दिया। संयोग से वह ट्रंक बम विस्फोट में निकल आया। चीनी भाषा में लिखे गये उन हस्तलेखों में एक में यह लिखा है—'**मनु का धर्मशास्त्र भारत में सर्वाधिक मान्य है जो वैदिक संस्कृत में लिखा है और दस हजार वर्ष से अधिक पुराना है।**' यह विवरण केवल मोटवानी की पुस्तक 'मनु धर्मशास्त्र : ए सोशियोलॉजिकल एण्ड हिस्टोरिकल स्टडी' (पृ० 232-233) में दिया है।

यह चीनी प्रमाण मनुस्मृति के वास्तविक काल विवरण को तो प्रस्तुत नहीं करता किन्तु यह संकेत देता है कि मनु का धर्मशास्त्र प्राचीन है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा कल्पित काल निर्णय को यह प्रमाण झुठला रहा है और यह जानकारी दे रहा है कि कभी मनुस्मृति में 680 श्लोक थे।

(च) पाश्चात्य शोधकर्ता वूलर, जे. जौली, कीथ, मैकडानल आदि ने

मनुस्मृति सहित प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रक्षेपों का होना सिद्धान्ततः स्वीकार किया है। जे. जौली ने कुछ प्रक्षेप दर्शाये भी हैं।

(छ) मनुस्मृति के कुछ अन्य भाष्यकारों एवं समीक्षकों ने प्रक्षेपों की संख्या इस प्रकार मानी है—

विश्वनाथ नारायण माण्डलीक	148
हरगोविन्द शास्त्री	153
जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे	100
जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण्देव	59

मनुस्मृति के प्रथम पाश्चात्य समीक्षक न्यायाधीश सर विलियम जोन्स उपलब्ध 2685 श्लोकों में से 2005 श्लोकों को प्रक्षिप्त घोषित करते हैं। उनके मतानुसार 680 श्लोक ही मूल मनुस्मृति में थे।

महात्मा गांधी ने अपनी 'वर्णव्यवस्था' नामक पुस्तक में स्वीकार किया है कि वर्तमान मनुस्मृति में पाई जाने वाली आपत्तिजनक बातें बाद में की गयी मिलावटें हैं।

(ज) भारत के पूर्व राष्ट्रपति और दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृणन, श्री रवींद्रनाथ टैगोर आदि भी मनुस्मृति में प्रक्षेपों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर और मनुस्मृति के प्रक्षेप : डॉ० अम्बेडकर ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के श्लोकार्थ प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं उनमें बहुत सारे परस्परविरोधी विधान वाले हैं। आश्चर्य है कि फिर भी उन्होंने मनुस्मृति में परस्परविरोध नहीं माना। यदि वे मनुस्मृति में परस्पर विरोध मान लेते तो उन्हें दो में से किसी एक श्लोक को प्रक्षिप्त मानना पड़ता। फिर उन्हें मनुस्मृति में प्रक्षेपों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता। प्रक्षेपों के अस्तित्व से मनुस्मृति की विशुद्ध प्राचीन मान्यताएँ स्पष्ट हो जातीं। तब उनके द्वारा न उग्र विरोध का अवसर आता और न विरोध का बवंडर उठता। किन्तु डॉ० अम्बेडकर ने जानबूझकर प्रक्षेपों के अस्तित्व की चर्चा भी नहीं की। प्रश्न उठता है कि क्या उन्हें प्रक्षेपों की पहचान नहीं हो पाई ?

यह विश्वसनीय नहीं है कि उन्हें परस्परविरोधी प्रक्षेपों का भान न हुआ हो, क्योंकि उन्होंने तो वेद से लेकर पुराणों तक प्राय: सभी ग्रन्थों में

प्रक्षेप के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उन पर स्पष्ट चर्चा की है। देखिए—

(क) वेदों में प्रक्षेप कहना : ''पुरुष सूक्त के विश्लेषण से क्या निष्कर्ष निकलता है? पुरुष सूक्त ऋग्वेद में एक क्षेपक है।'' (अम्बेडकर वाड्मय, खण्ड 13, पृ० 112)

''ऐसा प्रतीत होता हे कि वे दो मन्त्र (पुरुष सूक्त के 11 और 12) बाद में सूक्त के बीच जोड़ दिये गये। अतएव केवल पुरुष सूक्त ही बाद में नहीं जोड़ा गया, उसमें समय-समय पर और मन्त्र भी जुड़ते रहे। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि पुरुषसूक्त तो क्षेपक हैं ही, उसके कुछ मन्त्र और भी बाद में इसमें जोड़े गये।'' (वही, खण्ड 13, पृ० 111)

वेदों में प्रक्षेप मानने की अवधारणा इस कारण गलत है क्योंकि बहुत प्राचीन काल से वेदव्याख्या ग्रन्थों में वेदों के एक-एक सूक्त, अनुवाक, पद और अक्षर की गणना की हुई है, जो लिपिबद्ध है। कुछ भी छेड़छाड़ होते ही उससे पता चल जायेगा। इसी प्रकार अनेक पदपाठ आदि की पद्धति आविष्कृत है जिनसे वेदमन्त्रों का स्वरूप सुरक्षित बना हुआ है।

(ख) वाल्मीकि रामायण में क्षेपक—''महाभारत की तरह रामायण की कथावस्तु में भी कालान्तर में क्षेपक जुड़ते गये।'' (अम्बेडकर वाड्मय, खण्ड 7, पृ० 120 तथा 130)

(ग) महाभारत में क्षेपक—''व्यास के 'जय' नामक लघु काव्य ग्रन्थ में 8,800 से अधिक श्लोक नहीं थे। वैशम्पायन के 'भारत' में यह संख्या बढ़कर 24,000 हो गयी। सौति ने श्लोकों की संख्या में विस्तार किया और इस तरह महाभारत में श्लोकों की संख्या बढ़कर 96,836 हो गयी।'' (वही, खण्ड 7, पृ० 127)

(घ) गीता में क्षेपक—''मूल भगवद्गीता में प्रथम क्षेपक उसी अंश का एक भाग है जिसमें कृष्ण को ईश्वर कहा गया है।....दूसरा क्षेपक वह भाग है जहाँ उस पूर्व मीमांसा के सिद्धान्तों की पुष्टि के रूप में सांख्य और वेदान्त दर्शन का वर्णन है, जो उनमें पहले नहीं था।....तीसरे क्षेपक में वे श्लोक आते हैं, जिनमें कृष्ण को ईश्वर के स्तर से परमेश्वर के स्तर पर पहुँचा दिया गया है।'' (वही, खण्ड 7, पृ० 275)

(ङ) पुराणों में क्षेपक : ''ब्राह्मणों ने परम्परा से प्राप्त पुराणों में अनेक नये अध्याय जोड़ दिये, पुराने अध्यायों को बदलकर नये अध्याय लिख दिये और पुराने नामों से ही अध्याय रच दिये। इस तरह इस प्रक्रिया से कुछ पुराणों की पहले वाली सामग्री ज्यों की त्यों रही, कुछ की पहले वाली सामग्री लुप्त हो गयी, कुछ में नयी सामग्री जुड़ गयी तो कुछ नयी रचनाओं में ही परिवर्तित हो गये।'' (वही, खण्ड 7, पृ० 133)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि डॉ० अम्बेडकर प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रक्षेपों की स्थिति को समझते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जानबूझ कर मनुस्मृति मे प्रक्षेप नहीं माने। अब यह नया प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन्होंने प्रक्षेप क्यों नहीं माने? उसमें क्या रहस्य हो सकता है?

इसका उत्तर कठोर अवश्य है, किन्तु है सत्य। उन्होंने मनुस्मृति में प्रक्षेप इस कारण स्वीकार नहीं किये, क्योंकि उसके स्वीकार करने पर उनका **'विरोध के लिए विरोध'** का आन्दोलन समाप्त हो जाता। वे दलितों के सामाजिक और राजनीतिक नेता के रूप में स्वयं को स्थापित कर रहे थे। इसके लिए मनु और मनुस्मृति-विरोध का अस्त्र सफलता की गारंटी था। वे इसका किसी भी कीमत पर त्याग नहीं करना चाहते थे। मनु, मनुस्मृति, आर्य (हिन्दू) धर्म का विरोध दलितों का प्रिय विषय था। इसको सीढ़ी बनाकर वे भविष्य की ऊँचाइयों को पकड़ते गये। कुछ लोग यहाँ यह कह सकते हैं कि दलितों के हित के लिए ऐसा करना आवश्यक था। किन्तु यह कथन दूरदर्शितापूर्ण नहीं है। डॉ० अम्बेडकर का विरोध सकारात्मक कम, आक्रोशात्मक अधिक था। उनका वह कदम दलितों को दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में ले गया जिससे भारत में एक नये वर्ग संघर्ष की परिस्थिति उत्पन्न होने की आशंका बनती जा रही है।

डॉ० अम्बेडकर अपने मन में हिन्दुओं के प्रति गहरी घृणा पाल चुके थे और हिन्दू धर्म को त्यागने का निश्चय कर चुके थे, अतः उन्होंने हिन्दू-दलित सौहार्द को बनाये रखने की चिन्ता की ही नहीं। निश्चय ही यह विचार भारतीय समाज और राष्ट्र के लिए हितकर नहीं था।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए डॉ० अम्बेडकर ने मनुस्मृति की यथार्थ

साहित्यिक स्थिति को, तर्क को, प्रमाण को, परम्परा को, तथ्यों को, तटस्थ समीक्षा को, सत्य के अनुसन्धान के दावे को तिलांजलि दे डाली। उन्होंने विरोध करने के अतिरिक्त, सभी आपत्तियों-आरोपों का उत्तर देने के दायित्व से किनारा कर लिया। उनके अनुयायियों ने उनका अनुकरण किया। आज भी स्थिति यह है कि उनके समर्थक और अनुयायी मनु और मनुस्मृति का विरोध तो करते हैं किन्तु किसी भी शंका का तर्क और प्रमाण से उत्तर नहीं देते। प्रक्षिप्त और मौलिक श्लोकों के अन्तर को वे समझना-मानना नहीं चाहते। वे वास्तविक स्थिति से मुँह मोड़कर आज भी **'केवल विरोध के लिए विरोध'** को अपना लक्ष्य मान बैठे हैं जबकि परिस्थितियाँ बदल जाने पर अब उन पुरानी बातों को भूलने और छोड़ने में ही समझदारी और राष्ट्रहित है।

अन्त में, फिर से प्रश्न उठाया जाता है कि ठीक है, मनुस्मृति में उत्तम विधानों के श्लोक हैं, किन्तु मनु-विरोधी लेखकों द्वारा प्रस्तुत श्लोक भी तो मनुस्मृति के ही हैं, जो सर्वथा आपत्ति योग्य हैं। इस प्रकार बड़ी उलझन भरी स्थिति ज्ञात होती है मनुस्मृति की। उसमें एक ही साथ न्यायपूर्ण श्रेष्ठ विधान भी हैं और अन्यायपूर्ण निन्द्य विधान भी। लेकिन क्या मौलिक रूप से यह स्थिति सम्भव मानी जा सकती है? जब एक प्रबुद्ध सामान्य लेखक की रचना में भी इस प्रकार के परस्पर विरोध नहीं मिलते तो एक धर्मवेत्ता, विधिवेत्ता ऋषि के धर्म और विधिशास्त्र में ऐसे विरोध कैसे हो गये? इसका सीधा-स्पष्ट और निर्विवाद उत्तर है कि वे विरोधी श्लोक प्रक्षिप्त हैं अर्थात् समय-समय पर बाद के लोगों ने रचकर मनुस्मृति में मिला दिये हैं। मौलिक श्लोक पूर्वापर प्रसंगों से, विषयों से जुड़े हुए हैं और गुण-कर्म-योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित हैं, गम्भीर शैली में हैं, जबकि प्रक्षिप्त श्लोक प्रसंग, परस्परविरुद्ध तथा भिन्न शैली के हैं। इन साहित्यिक तटस्थ मानदण्डों के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि इस लेख में उद्धृत श्लोक मौलिक हैं और इनकी भावना के विपरीत श्लोक प्रक्षिप्त हैं इन श्लोकों की मौलिकता और प्रक्षिप्तता को यदि पाठक, और अधिक गम्भीरता तथा विस्तार से जानना चाहें, तो वे आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455 खारी बावली, दिल्ली से प्रकाशित इस लेखक के भाष्य एवं समीक्षायुक्त मनुस्मृति (सम्पूर्ण) का अध्ययन करें। इसमें कृतित्व पर आधारित सर्वसामान्य सात मानदण्डों के आधार पर मौलिक और

प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् दर्शा कर उन पर युक्ति-प्रमाण सहित समीक्षा दी गयी है। प्रक्षिप्तों पर यह नवीनतम शोधकार्य है।

मनुस्मृति के सन्दर्भ में वास्तविक स्थिति यह है कि मनुस्मृति-विरोधी सभी लेखकों में कुछ एकांगी और पूर्वाग्रहयुक्त बातें समानरूप से पाई जाती हैं। उन्होंने कर्मणा वर्णव्यवस्था को सिद्ध करने वाले आपत्तिरहित श्लोकों, जिनमें स्त्री-शूद्रों के लिए हितकर और सद्भावपूर्ण बातें हैं जिन्हें कि पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध होने के कारण मौलिक माना जाता है, को उद्धृत ही नहीं किया। केवल आपत्तिपूर्ण श्लोकों, जो कि प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, को उद्धृत करके निन्दा-आलोचना की है। उन्होंने इस शंका का समाधान नहीं किया है कि एक ही लेखक की पुस्तक में, एक ही प्रसंग में, स्पष्टतः परस्पर विरोधी कथन क्यों पाये जाते हैं? और अपने दो कथनों में से केवल आपत्तिपूर्ण कथन को ही क्यों ग्रहण किया? दूसरों की उपेक्षा क्यों की? यदि वे लेखक इस प्रश्न पर चर्चा करते तो उनकी आपत्तियों का उत्तर उन्हें स्वयं मिल जाता। न आक्रोश में आने का अवसर आता, न विरोध का, अपितु बहुत-सी भ्रान्तियों से बच जाते।

निष्कर्ष : संक्षेप में, मनुस्मृति के मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों की पहचान के सरल उपाय इस प्रकार हैं—

1. मनु की समाज व्यवस्था गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित वैदिक वर्णव्यवस्था है (डॉ० अम्बेडकर ने भी इसे स्वीकार किया है), अतः गुण-कर्म-योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित जो श्लोक हैं, वे मौलिक हैं। उनके विरुद्ध जन्मना जातिविधायक और जन्म के आधार पर पक्षपात का विधान करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं। वे उस काल की मिलावट हैं जब समाज में जातिवाद की भावना पनपी। यह काल बौद्धकाल से कुछ शताब्दी पूर्व का था।

मनु के समय जातियाँ नहीं बनी थीं। यही कारण है कि मनु ने वर्णों में जातियों की गणना नहीं दर्शायी है। इस शैली और सिद्धान्त के आधार पर वर्ण संकरों से सम्बन्धित सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं और उनके आधार पर वर्णित जातियों का वर्णन भी प्रक्षिप्त है।

2. इस पुस्तक के 'मनुस्मृति की मौलिक मान्यताएँ' शीर्षक लेख में उद्धृत मनु की यथायोग्य दण्डव्यवस्था, जिसमें उच्च-उच्च वर्ण को

अधिकाधिक दण्डविधान है, मौलिक है, उसके विरुद्ध पक्षपातपूर्ण कठोर दण्डव्यवस्था विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

3. पूर्वोक्त लेख में उद्धृत शूद्र की परिभाषा, शूद्रों के प्रति सद्भाव, शूद्रों के धर्मपालन, वर्णपरिवर्तन आदि के विधायक श्लोक मौलिक हैं; उनके विपरीत जन्मना शूद्रनिर्धारक, स्पृश्यापृश्य, ऊँच-नीच, अधिकारों के निषेध आदि के विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

4. पूर्वोक्त लेख में उद्धृत नारियों के सम्मान, स्वतन्त्रता, समानता, शिक्षा विधायक श्लोक मौलिक हैं, इसके विपरीत प्रक्षिप्त हैं।

इन निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि मनु की मान्यताएँ आपत्ति रहित हैं।

अत: आवश्यकता इस बात की है कि मनु एवं मनुस्मृति को मौलिक रूप में पढ़ा और समझा जाये और प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर किये जानेवाले विरोध का परित्याग किया जाये। आदिविधि दाता राजर्षि मनु एवं आदि-संविधान मनुस्मृति गर्व करने योग्य हैं, निन्दा करने योग्य नहीं। भ्रान्तिवश हमें अपनी अमूल्य एवं महत्वपूर्ण आदितम धरोहर को निहित स्वार्थमयी राजनीति में घसीटकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

मनुस्मृति में प्रक्षेपों के दुष्परिणाम—मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में प्रक्षेप होने के कारण अनेक दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—1. मनु और मनुस्मृति के रचनाकाल में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, 2. मनुस्मृति नव्य वर्णनों के कारण अर्वाचीन शास्त्र माना जाने लगा है, 3. मनुस्मृति की मौलिकता और प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न होता है, 4. रूढ़िवादी और पक्षपातपूर्ण वर्णनों के कारण मनु के व्यक्तित्व और मनुस्मृति की प्रतिष्ठा को हानि पहुँची है, 5. वैदिक काल के इतिहास, संस्कृति-सभ्यता का विकृत चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत हुआ है। 6. प्राचीन भारत के आदि-संविधान, आदि-शास्त्र के गौरवपूर्ण शास्त्र का अवमूल्यन हुआ है। इत्यादि दुष्परिणामों को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि मनुस्मृति के प्रक्षेपों की पहचान करके उनको हटाया जाये। इसी पवित्र साहित्यिक लक्ष्य को ध्यान में रखकर इस लेखक ने 'मनुस्मृति' के प्रक्षेपानुसन्धान का कार्य किया है।

4

मनुस्मृति : एक अध्ययन

स्व. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय
(मनुस्मृति भाष्यकार)

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

मानव समाज की सच्ची सुख-शान्ति और समृद्धि का मूल धर्माचरण है। आज धरती आकुल-व्याकुल है। सम्पूर्ण पृथिवी का पोर-पोर पीड़ा से कराह रहा है। धर्माचरण के पीयूषवर्षण से ही यह दावाग्नि शान्त हो सकेगी।

प्रश्न है, धर्माचरण क्या? क्या शत-शत मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के अनुगमन का नाम धर्माचरण है? उत्तर है—'न' इन विविध सम्प्रदायों ने तो विराट् मानवता को टुकड़े-टुकड़े करके रख दिया है। तब धर्माचरण से हमारा आशय है, सार्वभौम धर्म—मानव-धर्म—का आचरण।

धर्म के लक्षण—उस सार्वभौम मानव-धर्म का लक्षण क्या है? उक्त मनु-श्लोक में उसी की ओर संकेत किया गया है। इस सार्वभौम मानव-धर्म के चार लक्षण यहाँ बताये हैं—

(1) वेद—ईश्वरीय, ज्ञान, ईश्वरी कानून या ईश्वराज्ञा। यह श्रौत धर्म है। सार्वभौम शाश्वत सत्य (Eternal laws) ही ईश्वरीय नियम हैं। ये सत्य-सिद्धान्त देश और काल के लिए समान हैं। इन नियमों का जानना और उन्हें सही रूप में मानते हुए तद्वत् आचरण करना 'धर्माचरण' का पहला अंग है।

इस विषय में यहाँ विस्तार में जाने का हमें अवसर नहीं है। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि यह सुसिद्ध हो चुका है कि विश्व

नियमन और मुख्यतया मानव की जीवन-यात्रा की चरम सिद्धि के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और यह ज्ञान चार वेद-संहिताओं के रूप में हमें उपलब्ध है। वेद किसी देश-विशेष की सम्पत्ति नहीं, और न ही वेद में किसी जाति विशेष का इतिहास ही है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद की शिक्षाएँ सार्वभौमिक हैं, सार्वकालिक हैं। वे सार्वभौम सच्चाइयाँ (Universal Truths) हैं।

उदाहरण के लिए पवित्र वेद की एक शिक्षा है—

उद्यन्त इव सूर्य सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे।

अर्थात् 'उगते हुए सूर्य की रश्मियाँ किसी सोते हुए मनुष्य पर पड़ें तो वे उसका तेज और वर्चस् हर लेती है।' दिन काम करने के लिए है, रात्रि विश्राम के लिए। यह एक सार्वभौम सत्य है। हम यदि इसके विपरीत आचरण करें, रात्रि में काम करें तथा दिन में सोयें तो यह ईश्वरीय नियम के विपरीत व्यवहार है। इसका दुष्परिणाम हमें भोगना पड़ेगा। देश और काल से ऊपर उठा हुआ यह सार्वभौमिक और सार्वकालिक सत्य है।

इसी प्रकार हर मनुष्य माता के गर्भ से एक निश्चित क्रम और व्यवस्था के अनुसार जन्म लेता है। यह क्रम भी सभी देशों और सभी कालों में समान है। अब यदि कोई यह कहे कि बिना पुरुष के योग के कुमारी के गर्भ से ईसा ने जन्म लिया अथवा कुन्ती माता के कान से कर्ण उत्पन्न हुआ, तो ये दोनों ही, और इसी प्रकार के सभी कथन सार्वभौमिक सत्य—वेद के विरुद्ध होने से अमान्य हैं। इन चमत्कारों को स्वीकृति देना अन्धकार और अज्ञान को आमन्त्रित करना है, जिसका परिणाम कालान्तर में दुःख और अशान्ति ही हो सकता है।

हाइड्रोजन के दो भाग और ऑक्सीजन के एक भाग से मिलकर जल बन जाता है—यह वैज्ञानिक सत्य, वैदिक सत्य है। ऐसे सभी वैज्ञानिक सत्य वैदिक सत्य ही हैं। हाँ, वैज्ञानिक शोध अपूर्ण हो सकती हैं, वैदिक सत्य पूर्ण और सनातन हैं।

दो और दो चार की तरह वेद त्रिकालाबाधित सत्यों और सार्वभौम सृष्टि-नियमों का प्रतिपादक है। वेद की कल्याणी वाणी सृष्टि-भर के सब काल के सब मानवों के लिए हितकारी है। वेद विश्व-धर्म है। हमारा कोई

आचरण विश्व-शान्ति में बाधक न हो—यह धर्माचरण की प्रथम कसौटी है।

(2) स्मृति—'वेद' विश्व-धर्म है, 'स्मृति' राष्ट्रधर्म है। वेद परमात्मा का कानून है। स्मृति राष्ट्रविरोध का कानून है। यह स्मार्त धर्म है। यह आवश्यक है कि हमारा राष्ट्र-धर्म विश्व-धर्म की मूलभावना से अनुप्राणित हो। स्मृतियाँ वेदानुमोदित होनी चाहिए। हाँ, जहाँ श्रौत धर्म (वैदिक सत्य) सब कालों और सब देशों के लिए समान होगा, वहाँ स्मार्त धर्म में देश-काल का भेद हो सकता है। उदाहरण के लिए अरब (रेगिस्तान) में जल का अभाव है। वहाँ सभी के लिए नित्य स्नान सम्भव नहीं तो 'वजू करके' काम निकाला जा सकता है। (हाँ, मूलभावना 'शुद्धि' की यथासम्भव पूरी-पूरी रक्षा होनी ही चाहिए।) परन्तु भारत में भी जहाँ गंगा-यमुना की पवित्र धाराएँ बहती हैं, यदि कोई 'वजू करके' काम निकालता है तो वह स्मार्त धर्म और श्रौत धर्म में भेद न करके मूढ़ता को ही व्यक्त करता है तथा एकदेशस्थ मनुष्यों के आचरण में भेदभाव उत्पन्न करने का पाप ही खरीदता है। 'स्मार्त धर्म' वेद-प्रतिपादित शाश्वत सत्यों की रक्षा करता हुआ देश और काल की विशेष स्थितियों के विचार का पूर्ण अवसर देता है। इस प्रकार सुप्रकट है कि स्मृतियाँ ऋषि-मुनियों की वे व्यवस्थाएँ हैं जो उन्होंने देश-काल और तत्कालीन परिस्थिति को देखकर बनाईं। उनमें सभी प्रकार के लोक-व्यवहार के नियम हैं। व्यवस्थाओं में बँधा हुआ व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र प्रगति करता है। स्मृतिशास्त्र को यदि 'आचार-शास्त्र' अथवा 'व्यवहार-शास्त्र' कहा जाये, तो यह अत्युक्ति नहीं है।

सृष्टि की उत्पत्ति, काल-व्यवस्था, देश-विभाग, मानव के व्यक्तिगत जन्म से मरण तक के धर्म, पारिवारिक कर्तव्य तथा व्यवहार, समाज तथा राष्ट्र का निर्माण और उनकी व्यवस्थाएँ, आपद्-धर्म इत्यादि सभी विषय स्मृति-शास्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस प्रकार धर्माचरण की दूसरी कसौटी है कि हमारा कोई विचार, कथन और आचरण राष्ट्र के संविधान या राष्ट्रहित के विरुद्ध न हो, अर्थात् वह स्मृति के अनुकूल हो।

(3) सदाचार—इसका अर्थ है '**महापुरुषों द्वारा आचरित समाज-धर्म**'। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से सदाचारी धर्मात्मा पुरुष जिन

सामाजिक परम्पराओं तथा शिष्टाचार के नियमों का निर्धारण करते हैं, उनका भी विचार आवश्यक होता है। हाँ, बुद्धि को साथ रखते हुए, यह सदैव देखना चाहिए कि कोई सामाजिक परम्परा (रीति-रिवाज) मूल धर्म (वैदिक सत्यों) के विरुद्ध न हो तथा सिर्फ रूढ़ि बनकर उलटे समाज या राष्ट्र की प्रगति में बाधक तो न बन गयी हो! क्योंकि ये परम्पराएँ और सदाचारपरक शिष्टाचार के नियम मूलत: समाज को सशक्त और समृद्ध बनाने के लिए ही होते हैं। देश-कालानुसार समय-समय पर इनमें परिवर्तन हो सकता है, परिवर्तन होते रहना चाहिए। हाँ, हमारा सामाजिक आचार (सदाचार) वेद और स्मृति के अनुकूल हो, यह आवश्यक है। तो धर्माचरण की तीसरी कसौटी है सामाजिक सदाचार (Social etiquette) हमारा हर विचार-आचार इसके अनुकूल होना चाहिए।

(4) आत्मा की अनुकूलता—धर्माचरण की यह अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कसौटी है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आदर्श सदैव हमारे दृष्टि-पथ में रहना चाहिए। हमारा कोई व्यवहार ऐसा न हो जो यदि वही व्यवहार किसी अन्य के द्वारा हमारे साथ किया जाता, तो हमें कष्ट होता।

हम कोई काम आत्मा की आवाज को मारकर नहीं करें, आत्म-विश्वास के साथ करें और विचार रखते हुए करें कि हम शरीर-मात्र नहीं, अजर-अमर एवं शाश्वत आत्मा हैं।

निष्कर्ष यह कि हमारा प्रत्येक आचरण जब (1) वेदानुकूल = विश्वधर्म अर्थात् परमात्मा के कानून या आज्ञा के अनुकूल, (2) स्मृति-सम्मत = राष्ट्रधर्म या राष्ट्र के संविधान के अनुकूल, (3) सामाजिक सदाचार = समाज-धर्म या सामाजिक शिष्टाचार के अनुकूल, तथा (4) हमारी आत्मा के अनुकूल अर्थात् सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर किया गया हो, तब वह धर्माचरण कहलायेगा। इस प्रकार के धर्माचरण से ही ऐहिक (लौकिक) और पारलौकिक उन्नति होकर आत्मविकास, सामाजिक अभ्युदय, राष्ट्रीय समुन्नति और विश्व-कल्याण या विश्व-शान्ति सम्भव है।

मनुस्मृति-माहात्म्य—जैसा कि हमने अभी विचार किया, धर्माचरण की कसौटी के रूप में श्रुति (वेद) के पश्चात् स्मृति-प्रमाण का महत्व

स्वीकार किया गया है। पर स्मृतियाँ तो अनेक हैं, तब किसको प्रामाण्य माना जाये?

उत्तर सीधा है। हम अभी निवेदन कर चुके हैं कि स्मार्त या राष्ट्रधर्म, वेद अर्थात् विश्वधर्म का अनुवर्ती होना चाहिए। इस कसौटी पर सिर्फ मनुस्मृति ही वेदानुकूल होने से सर्वाधिक प्रामाणिक है। यह ठीक है कि मनुस्मृति आर्यावर्तीय महापुरुष की कृति होने से मुख्यतया आर्यावर्तीय जनों के लिए है, किन्तु यह आद्य-स्मृति होने से सारे संसार के सभी कालों के मानवों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है। इसकी इसी व्यापकता और सर्वहितकारिता के विचार से ही मनीषियों ने इसे 'मानव-धर्मशास्त्र' कहा है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची में प्रक्षिप्त अंशों को छोड़ने के पश्चात् मनुस्मृति के आर्ष-भाग को ही प्रमाण के योग्य माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रमाण भी 'मनुस्मृति' के ही दिये हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' में लगभग 400, संस्कारविधि में 175 और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में उन्होंने लगभग 20 प्रमाण मनु के दिये हैं काशी-शास्त्रार्थ में पं० ताराचरण तर्करत्न द्वारा 'मनुस्मृति' की वेद-मूलकता पूछे जाने पर स्वामी जी ने कहा था कि—''सामवेद के ब्राह्मण में कहा गया है कि जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधों का भी औषध है।'' पाठकों से यह भी अविदित नहीं है कि महर्षि अपने जीवन के सन्ध्याकाल में जब राजस्थान के नरेशों को शास्त्रों की शिक्षा दे रहे थे, तब उनके पाठ्यक्रम में 'मनुस्मृति' का विशिष्ट स्थान था।

वैदिक साहित्य में महत्त्व एवं प्रामाण्य—प्राचीन शास्त्रों एवं वैदिक साहित्य में भी 'मनुस्मृति' के महत्त्व को एकमत से स्वीकार किया गया है। ऊपर सामवेद के जिस ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है वह है छान्दोग्य ब्राह्मण और उसमें लिखा है—'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः'। इसी प्रकार मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने एक बृहस्पति को भी उद्धृत किया है जो मनु का प्रशस्तिपाठ करते हुए लिखता है—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनो स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति सा न शस्यते॥

तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥

अर्थात्—'वेदार्थ से युक्त होने के कारण मनुस्मृति प्रधान है। मनु के अर्थ के विपरीत जो स्मृतियाँ हैं वे प्रशंसनीय नहीं हो सकतीं। तर्क, व्याकरण तथा अन्य शास्त्र तभी तक शोभा प्राप्त करते हैं जब तक कि धर्म, अर्थ और मोक्ष के उपदेष्टा मनु के दर्शन नहीं होते।' महाभारत में भी कहा गया है—

पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धान्ति चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

अर्थात्—पुराण (शतपथ आदि), मानवधर्मशास्त्र, सांग वेद, इन्हें हेतु या तर्क के द्वारा क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।

स्वयं 'मनुस्मृति' की अन्तःसाक्षी भी इस कथन को प्रामाणित करती है। 'मनुस्मृति' में लिखा है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ *(2/9)*

अर्थात्—'मनु ने जिस किसी को भी कुछ धर्म कहा है वह सब वेद के अनुकूल ही है, क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय हैं।' इसी के आधार पर ब्राह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राम मोहनराय ने लिखा था—"Whatever law is inconsistent with the code of Manu, which is the Substance of the Veda, is really inconsistent with Veda itself and therefore inadmissible." अर्थात् 'मनु की विधि (जो कि वेदों का सार है) के विपरीत जो भी नियम आदि हैं, वे वेद के अनुकूल न होने के कारण अग्राह्य हैं।'

आर्यों के लिए श्रुति और स्मृति, यही दोनों मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। श्रुति स्वतःप्रमाण है, और स्मृति परतःप्रमाण। यही बात कवि कालिदास ने 'रघुवंश' में उपमा के रूप में दी है—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।

अर्थात्—'स्मृति श्रुति का अनुकरण करती है।' मेधातिथि ने मनुभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

ऋचो यजूँषि सामानि मन्त्रा आथर्वणश्चये।
महर्षिभिस्तु तत् प्रोक्तं स्मार्तस्तु मनुरब्रवीत॥

अर्थात् 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का उपदेश ऋषियों ने किया था, परन्तु स्मार्त धर्म (स्मृति) का उपदेश 'मनु' ने किया। महाभारत शान्ति-पर्व में लिखा है कि—

ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः।
कृतं शत-सहस्त्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्॥
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते।
तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायंभुवः स्वयं।
स्वायंभुवेषु धर्मेषु शास्त्रं चौशनसे कृते॥
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते॥

अर्थात्—'निराकार परमात्मा ने उन ऋषियों को शत-सहस्र श्लोकों का उत्तम ज्ञान दिया जिस पर संसार का समस्त धर्म स्थित है। स्वायंभुव मनु ने स्वयं इन धर्मों का उपदेश किया। मनु के उस उपदेश के आधार पर ही बृहस्पति और उशनस ने अपनी-अपनी स्मृतियाँ बनाईं।'

'मनुस्मृति' की प्राचीनता—जितनी स्मृतियाँ आजकल मिलती हैं उनमें 'मनुस्मृति' सबसे प्राचीन है। विश्वरूप ने जो याज्ञवल्क्य-स्मृति पर टीका लिखी है, उसमें दो सौ के लगभग उन्हीं श्लोकों को उद्धृत किया है जो इस समय 'मनुस्मृति' में मिलते हैं। श्री शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-भाष्य में मनुस्मृति के बहुत-से श्लोकों का उल्लेख किया है। वेदान्त 3।1।14 'स्मरन्ति च' सूत्र की व्याख्या में वे लिखते हैं—

मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः।

अर्थात्—'मनु और व्यास आदि शिष्ट पुरुषों के कथन स्मृति के अन्तर्गत आते हैं।' कुमारिल की 'तन्त्रवार्तिक' तो मनु के आधार पर ही है। कुमारिल ने 'मनुस्मृति' को न केवल सब स्मृतियों से ही, अपितु गौतम-सूत्रों से भी अधिक विश्वसनीय और माननीय स्वीकार किया है।

अपरार्क ने याज्ञवल्क्य-स्मृति के श्लोक 2।21 की व्याख्या करते हुए भी पहले श्लोक का उद्धरण दिया है। अश्वघोष की वज्रसूची में 'मानव-

धर्म' से कई श्लोक लिये गये हैं जो वर्तमान 'मनुस्मृति' के ही हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो इसमें नहीं मिलते।

वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड 18। 30, 32 में 'मनुस्मृति' के निम्न दो श्लोकों का उल्लेख है जो आठवें अध्याय में (319, 317) हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेनाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥

भारत के बाहर मनु का प्रभाव : पी०वी० काने ने अपनी पुस्तक History of Dharmashastra में लिखा है कि मनुस्मृति का प्रभाव भारत के बाहर भी पाया जाता है। वे लिखते हैं—

"The influence of the Manusmiriti spread eve beyond the confines of India. In A. Bergigne's Inscriptions Sanscrites de campa et du Cambodge [p.423] we have an inscription in which occur verses one of which is identical with Manu (ii, 136) and the other is a summary of Mau [iii 77-80]. The Burmese are governed in modern times by the dhamma that, which are based on Manu. Vide Dr. Ferchhammer's Essay on Sources ad Development of Burmese Law (1885, Rangoon) Dr. E.C.G. Jonker (Leyden 1885) wrote a disseration on an old Javanese lawbook compared with Indian sources of law like the Manusmriti (which is still used as a lawbook in the island of Bali)."

अर्थात्—'ब्रह्मदेश और बाली द्वीप के धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' से बहुत-कुछ सादृश्य रखते हैं। एक प्रस्तर-लेख में दो श्लोक दिये हैं जिनमें से एक तो ज्यों-का-त्यों 'मनुस्मृति' का है, दूसरा मनु के एक श्लोक का सार-मात्र है।' वे श्लोक निम्न हैं—

आचार्यवद्गृहस्थोऽपि माननीयो बहुश्रुतः।
अभ्यागतगुणानां च पराविद्येति मानवम्॥

3।77-80 का सार

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीपो यद् यदुत्तरम्॥

—2।136

ब्रह्मदेश तथा भारत के निकटस्थ टापुओं में तो भारत की सभ्यता ही प्रचलित थी। अतः इनकी पुस्तकों में 'मनुस्मृति' का सादृश्य मिलना आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु इतना अवश्य सिद्ध होता है कि 'मनुस्मृति' उस समय भी महत्वपूर्ण थी जब इन टापुओं का भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

(3) मनु और 'मनुस्मृति'—मानव-धर्मशास्त्र का वैदिक साहित्य में बहुत गौरव है। आर्य जाति की सभ्यता का मानव-धर्मशास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। हम चाहे 'मनु' या 'मनुस्मृति' के विषय में पूछे गये अनेक प्रश्नों का समाधान न कर सकें, तो भी यह अवश्य मानना पड़ा है कि मनु अवश्य ही कोई महापुरुष था जिसके उपदेश आर्य-सभ्यता के निर्माण तथा जीवनस्थिति के लिए बड़े साधक सिद्ध हुए और उन पर विद्वानों की अब तक श्रद्धा चली आती है।

मनु कौन थे ?—यह मनु कौन थे, यह कहना कठिन है। जिस प्रकार उपनिषत्कारों तथा दर्शनकारों के विषय में बहुत कम ज्ञात है, उसी प्रकार 'मनु' के विषय में भी कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। वह राजा थे या ऋषि थे? तपस्वी थे या गृहस्थी थे? इस विषय में हम कुछ नहीं जानते। कहीं-कहीं तो मनु को केवल धर्मशास्त्र का रचयिता बताया गया है और कहीं-कहीं समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ही मनु से बतायी गयी है। आर्य जैसी प्राचीन जाति के साहित्य में इस प्रकार की कठिनाइयों का होना स्वाभाविक भी है। 'शतपथ ब्राह्मण' (13।4।3।3) में आता है—

मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः।

अर्थात्—'मनु वैवस्वत राजा है और मनुष्य उसकी प्रजा हैं।'—इससे प्रतीत होता है कि मनु वैवस्वत कोई राजा था। यह भी सम्भव है कि राजा

को ही यहाँ विशेष गुणों के कारण मनुवैवस्वत कहा है।

मेधातिथि ने अपने भाष्य के आरम्भ में मनु के विषय में लिखा है—

मनुर्नाम कश्चित् पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाऽध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नः स्मृतिपरम्परा प्रसिद्धः।

अर्थात्—'मनु कोई पुरुष-विशेष था जो वेदों की अनेक शाखाओं को पढ़कर धर्मानुष्ठान तथा स्मृति-परम्परा के लिए प्रसिद्ध हो गया।'

यह एक हानि-शून्य कथन है और इतना मानने में किसी को भी संकोच नहीं हो सकता, क्योंकि जिस मनु की इतनी प्रसिद्धि है वह अवश्य ही कोई विद्वान् पुरुष रहा होगा और उसने वेदाचार और लोकाचार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा।

प्रचलित 'मनुस्मृति' का कर्त्ता : मनु के विषय में इतना कहकर अब 'मनुस्मृति' पर आना चाहिए। प्रश्न यह है जो मनु इतना प्रसिद्ध है, क्या प्रचलित 'मनुस्मृति' भी उसी की बनायी है? यदि नहीं, तो मनु के विषय में इतना राग अलापने का क्या अर्थ? हमारा ऐसा मत है कि वर्तमान 'मनुस्मृति' में मनु के विचार तो हैं, मनु के शब्द नहीं। मानते भी सब ऐसा ही हैं। जिसको लोग 'मनुस्मृति' कहते हैं उसका नाम है भृगुसंहिता। कहते हैं कि इसको भृगु और उनके शिष्यों ने श्लोकबद्ध किया। 'मनुस्मृति' में भी लिखा है—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥

इन श्लोकों के आगे-पीछे के जो श्लोक हैं उनका मिलान करने से यह निश्चय करना कठिन है कि यह संहिता भृगु की ही बनायी हुई है। परन्तु एक बात निश्चित है, अर्थात् 'मनुस्मृति' आजकल जिस रूप में मिलती है और जिसको भृगु-संहिता कहते हैं यह भी कोई नवीन पुस्तक नहीं है।

भृगुसंहिता के कर्त्ता कौन थे? : यह भृगुसंहिता भृगु की बनायी है या अन्य किसी की—इस विषय में भी विद्वानों में विवाद है। मनु की स्वयं

बनायी तो हो ही नहीं सकती। इतना तो 'मनुस्मृति' के पहले श्लोक से ही विदित है—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथा न्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥

अर्थात्—'जब मनु महाराज एकान्त में बैठे हुए थे तो महर्षियों ने सत्कारपूर्वक आकर उनसे उपदेश के लिए प्रार्थना की। यदि मनु स्वयं लिखनेवाले होते तो इस प्रकार आरम्भ न होता।

इस पर कहा जा सकता है कि अन्य स्मृतियों का भी तो आरम्भ इसी प्रकार हुआ है। जैसे—

योगेश्वरं याज्ञवल्क्यं सम्पूज्य मुनयोऽब्रुवन।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेदविदांवरम्।
सर्वशास्त्रविधिज्ञं तमृषिभिश्च नमस्कृतम्॥
नमस्कृत्य च ते सर्वं इदं वचनमब्रुवन्।
हितार्थं सर्वलोकानां भगवन् कथयस्व नः॥

(अत्रिस्मृति)

विष्णुमेकाग्रमासीनं श्रुतिस्मृतिविशारदम्।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे कलापग्रामवासिनः॥

(विष्णुस्मृति)

इष्ट्वा क्रतुशतं राजा समाप्तं वर दक्षिणम्।
भगवतं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम्॥

(बृहस्पतिस्मृति)

हमारा विचार यह है कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के नाम से जो स्मृतियाँ पीछे बनायी गईं, वे मनुस्मृति का अनुकरण मात्र थीं। भारतीय साहित्य में एक ऐसा युग आ चुका है जब लोग अपनी बनायी हुई चीजों को पूर्व-आचार्यों और ऋषियों के नाम से प्रचलित कर देते थे जिससे सर्वसाधारण में उनका मान हो सके। भारतवर्ष में जब बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों का प्रचार हुआ और जब वेदों का पुनरुद्धार करने के लिए

पौराणिक मत ने जोर पकड़ा, तो ऐसी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के बनानेवाले याज्ञवल्क्य कौन हैं—यह कहना कठिन है। आरम्भिक श्लोक से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही याज्ञवल्क्य हैं जिनका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पाया जाता है। 'मनुस्मृति' के अनुकरणार्थ ही उसका आरम्भ उसी प्रकार के श्लोक से कर दिया गया। यही दशा अन्य स्मृतियों की है जो बड़े-बड़े नामों से सम्बन्धित कर दी गयी हैं। परन्तु 'मनुस्मृति' के विषय में यह माना जा सकता है कि मनु महाराज के उपदेशों को भी भृगु या अन्य किसी विद्वान् ने छन्दोबद्ध कर दिया हो।[1] प्राचीनकाल में उपदेष्टा मौखिक उपदेश दिया करते थे और पीछे से उसके अनुयायी सर्वसाधारण के लाभार्थ उन भावों को छन्दों का रूप दे देते थे। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) लिखता नहीं था। उसके उपदेश उसके शिष्यों ने लेखबद्ध किये। महात्मा बुद्ध के जो उपदेश 'धम्मपद' में मिलते हैं वे बुद्ध के शब्द नहीं हैं; न बुद्ध श्लोक बनाकर उपदेश देते थे। यह तो बौद्ध शिष्यों ने पीछे से बना दिये।

'मानव-धर्मसूत्र' और 'मनुस्मृति' का सम्बन्ध : यहाँ यह प्रश्न रह जाता है कि क्या मनु के उपदेश आरम्भ से ही इस रूप में थे? इस विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गयी हैं। कुछ लोगों का मत है कि पहले सूत्र-रूप में था। पीछे से इसको श्लोकों का रूप दिया गया और इस रूप के देने वाले भृगु ऋषि हैं।

हम ऐतिहासिक झमेलों को विद्वान् अनुसन्धानकर्ताओं के लिए छोड़ते हैं। यहाँ हम केवल अपनी धारणा प्रकट करते हैं। वह यह है कि—

---

1. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु स्वायम्भुव है। मनुस्मृति में और समस्त प्राचीन साहित्य में मनु को ही धर्मप्रवक्ता कहा गया है और जितने उद्धरण मिलते हैं वे मनु स्वायम्भुव के नाम से हैं। अन्य मनुओं का नाम मनुस्मृति के साथ भ्रान्ति से जुड़ गया है और भृगु का नाम किसी ने अपनी प्रसिद्धि के लिए बलात् जोड़ा ज्ञात होता है। यह निश्चित है कि मनु के प्रवचनों को छन्दोबद्ध उनके किसी शिष्य ने किया है। उससे मनुस्मृति की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता। इस विषयक विस्तृत विवेचन देखिए सम्पादककृत भाष्ययुक्त मनुस्मृति की भूमिका में 'मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन?' शीर्षक समीक्षा।—सम्पादक

1. मनु के उपदेश पहले किसी गाथा-रूप में थे।
2. फिर मानव-धर्मसूत्रों के रूप में आये।
3. फिर वर्तमान 'मनुस्मृति' के रूप में परिवर्तित हो गये।
4. यह 'मनुस्मृति' भी बहुत ही प्राचीन है।
5. पीछे से इस 'मनुस्मृति' में बहुत-से क्षेपक बढ़ा दिये गये।

(4) 'मनुस्मृति' में प्रक्षिप्तांश—यह एक सच्चाई है कि रामायण, महाभारत, गीता और महान् ग्रन्थों की भाँति ही 'वाम मार्ग काल' और 'पौराणिक काल' में मानव-जाति के शत्रुओं के हाथों स्वार्थवश या अज्ञानवश इस महान् ग्रन्थ में पर्याप्त प्रक्षेप किया गया है।

महात्मा बुद्ध के कुछ पहले जब शुद्ध वैदिक धर्म में विकराल विकृति उत्पन्न हो गयी थी और महात्मा बुद्ध के कुछ पीछे जब अवैदिक बौद्ध मत और वैदिक-पौराणिक मत में घमासान युद्ध हुआ, तब भिन्न-भिन्न उद्देश्य रखनेवाले साम्प्रदायिक विद्वान् मनमानी कतरनी चलाते रहे। जहाँ जो चाहा मिला दिया और जहाँ से जो चाहा निकाल दिया। इसने वैदिक सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ मचा दी।

समय का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है। जो मकान बनाया जाता है वह कितना ही सुदृढ़ क्यों न हो, वायु, धूप तथा जल का उस पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। प्रत्येक मकान की आकृति को देखकर आप बता सकते हैं कि समय ने उसमें कितना परिवर्तन किया है। पहले पानी दीवारों पर धब्बे डाल देता है। फिर घर का स्वामी उस पर पुताई कर देता है। फिर वर्षा आती है और कुछ भाग धुल जाता है। फिर घरवाले चूने की एक बारीक तह और लगा देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक दीवार पर पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। कभी-कभी दीवारों को खुरचकर नये सिरे से पुताई कर दी जाती है। परन्तु फिर भी उसको मौलिक दीवार नहीं कह सकते। ये सब आदि से अन्त तक क्षेपक ही होते हैं। इसी प्रकार पुस्तकों का हाल है। जो पुस्तकें साधारण मनोरंजन की हैं, उनमें लोग बहुत कम हस्तक्षेप करते हैं और वह भी जान-बूझकर नहीं। उनके क्षेपक इस प्रकार के होते हैं कि कहीं तो लेखकों के प्रमाद के कारण शब्द छूट गया या कोई पंक्ति रह गयी, या कभी-कभी ऊपर की आधी पंक्ति के साथ मिल गयी। कभी-कभी शब्द के

छूट जाने पर पीछे आनेवाले लोगों ने संशोधन के उद्देश्य से अपनी ओर से कोई ऐसा शब्द जोड़ दिया, जो खप सके। इस प्रकार पर्याय आते रहते हैं। इस प्रकार ये क्षेपक तो होते हैं, परन्तु किसी को हानि नहीं पहुँचाते। परन्तु धार्मिक पुस्तकों के क्षेपक बड़े भयानक होते हैं। उनका उद्देश्य ही दूसरा होता है। जब किसी देश में धार्मिक विप्लव होते हैं, तो सबसे पहले धर्मग्रन्थों पर आक्रमण होता है। कोई धर्मसंस्थापक आज तक सर्वथा नया धर्म स्थापित नहीं कर सका। हर एक कहता है कि मैं वही बात कहता हूँ जो पूर्व से चली आई है। ऐसा कहने पर दो दल हो जाते हैं और धर्मग्रन्थ दोनों दलों के हाथ में मोम की नाक बन जाते हैं। 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थ में यह बात बहुत सुगम थी। अनुष्टुभ् छंद है। फिर दैनिक व्यवहार की बातें सरल-से-सरल भाषा में लिख दी गयी हैं। इसमें मिलावट कौन कठिन थी?

पहले एक सिद्धान्त के निषेध में एक श्लोक मिलाया गया, इसको हम आक्रमण (attack) कह सकते हैं। फिर उसके विरोधियों ने मौलिक सिद्धान्त की पुष्टि में आगे एक श्लोक मिला दिया। इसको प्रत्याक्रमण (Counter-attack) कहना चाहिए। इस प्रकार आक्रमण-प्रत्याक्रमणों का ताँता बँध गया और अनेक स्थलों पर बहुत-से क्षेपक बढ़ गये। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ कि विधि या निषेध की व्याख्या करने के लिए अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा में श्लोक बढ़ाये गये जिनका धर्मशास्त्र जैसे ग्रन्थ में लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे स्थल भी कई हैं जैसे ब्रह्मविवाह की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए लिख दिया कि इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तान से दस पीढ़ियाँ अगली, दस पिछली और एक वर्तमान—इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मविवाह श्रेष्ठतम है, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि उससे इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायें।

यह 'अतिवाद' अन्य कई स्थलों में, मुख्यतया शौच प्रकरण में (5/136-145) में स्पष्ट दीख पड़ता है।

परस्पर-विरोधिता—क्या मनुस्मृति में क्षेपक हैं? हाँ, अवश्य हैं। कोई निष्पक्ष विद्वान् इसको मानने में संकोच नहीं कर सकता। इसके प्रमाण पुष्कल हैं। हाँ, यह सम्भव है कि इस विषय में मतभेद हो कि कितना

क्षेपक है और कितना मौलिक। सबसे पहली बात तो यह है कि परस्पर-विरोध बहुत है जिसको भाष्यकारों की प्रतिभा-सम्पन्न आलोचना भी दूर नहीं कर सकती। हम यहाँ 'मनुस्मृति' के दो श्लोक उल्लेख करते हैं—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ *(3/12)*
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ *(3/13)*

यहाँ ब्राह्मण को शूद्र भार्या विवाहने का पूरा अधिकार है। परन्तु इससे अगले ही श्लोक में बलपूर्वक इसका निषेध किया गया है—

न ब्राह्मण क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्य्योपदिश्यते॥ *(3/14)*

इसके आगे चार और श्लोक हैं जिनमें इसी बात पर बल दिया गया है कि कोई द्विज अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह न करे। यहाँ तक कि आपात्काल में भी आज्ञा नहीं है।

इन दो विरोधों का समन्वय हो ही नहीं सकता।

(2) मनु० (3/12) में आठ प्रकार के विवाह सम्बन्धों का उल्लेख है—

ब्राह्मणो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैवं पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

अर्थात्—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

इसके पश्चात् 3/27 से 3/34 तक इनके लक्षण दिये हैं। फिर 3-39 से 3-42 तक यह बताया है कि पहले चार अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, श्रेष्ठ और 'शिष्टसम्मत' हैं, शेष चार विवाह कुत्सित हैं। उनकी सन्तान झूठी और 'ब्रह्मधर्मद्विषः' होती है। इसलिए अनिन्दित अर्थात् चार प्रकार के विवाह की ही आज्ञा है। शेष चार असुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच 'निन्द्य' हैं। इसलिए 'निन्द्यन् विवर्जयेत्—इनको नहीं करना चाहिए। हमारी समझ में मनु महाराज की यही निज सम्मति है।

परन्तु नीचे के श्लोक सर्वथा इसके विरुद्ध हैं—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य, क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान्॥ *(3/23)*

यहाँ पहले छह अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व को ब्राह्मणों के लिए धर्मानुकूल बताया। पिछले चार अर्थात् आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को क्षत्रियों के लिए 'धर्म' बताया। वैश्य और शूद्रों के लिए राक्षस-विवाह को छोड़कर आसुर, गान्धर्व, और पैशाच को धर्म ठहराया गया। यह बात न केवल 3/41 से ही सर्वथा विरुद्ध है, किन्तु आश्चर्यजनक भी है। क्षत्रियों को पहले चार विवाहों की आज्ञा क्यों नहीं? उनको शेष चार ही क्यों हैं? पैशाच विवाह में क्या गुण हैं कि क्षत्रियों के लिए यह अच्छा है और वैश्य और शूद्रों के लिए बुरा? कोई बुद्धिमान पुरुष पैशाच विवाह को किसी के लिए भी अच्छा नहीं बता सकता। फिर क्षत्रिय राजाओं पर क्या कृपा हो गयी कि उनके विवाह के लिए कोई नियम ही नहीं रखा गया, सभी कुछ विहित बता दिया गया? क्या इसके क्षेपक होने में कोई सन्देह हो सकता है? क्या किसी राजा के उच्छृंखल व्यवहार को 'धर्म' बताने के लिए ही तो यह करतूत नहीं की गयी? फिर गान्धर्व विवाह तो व्यभिचार से कम नहीं, परन्तु इसकी ब्राह्मणों को छोड़कर सभी को आज्ञा है। राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला पर आसक्त हो जाता है तो वह मनुस्मृति का प्रमाण देकर ही एकान्त-प्रसंग करने के लिए उसको बाधित करता है। राजे लोग 'मनुस्मृति' के इस हथियार को पाकर क्या-कुछ नहीं कर सकते?

यही नहीं, इससे अगला श्लोक तो इसके भी विरुद्ध है—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥ *(3/24)*

''विद्वानों का कहना है कि पहले चार विवाह ब्राह्मण के लिए प्रशस्त हैं। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस-विवाह। वैश्य और शूद्र के लिए एक आसुर-विवाह है।''ये सभी बातें ठीक हो सकती हैं? राक्षस-विवाह में क्या विशेषता है कि यह एकमात्र क्षत्रिय के लिए प्रशस्त बताया गया। इससे अगले दो श्लोक भी देखिए—

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥ *(3/25)*
पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥ *(3/26)*

कभी कुछ और कभी कुछ। कोई बुद्धिमान् पुरुष ऐसी बहकी-बहकी बातें न कहेगा। थोड़ा-सा भी ध्यान देने से विदित होता है कि 3/23 से लेकर 3/26 तक चार श्लोक मिला दिये गये। इसी प्रकार 3/36, 37, 38 भी बेतुके जोड़े गये हैं और उनमें इक्कीस-इक्कीस पीढ़ियों के तरे की मन को लुभाने वाली बातें बताई गयी हैं। यह मिलावट ऐसा पैबन्द है जो दूर से चमकती है; रफूगरी ऐसी भद्दी रीति से की गयी है कि समस्त कपड़ा भद्दा दीखने लगता है।

(3) अध्याय 9 के 59 से 63 तक चार श्लोकों में 'नियोग' की आज्ञा है और 63वें श्लोक में कहा गया है कि 'नियोग विधि' को त्यागकर जो अन्यथा व्यवहार करते हैं वे पतित हो जाते हैं। परन्तु 65 से 68 तक नियोग का निषेध है। 59 से 69 तक ये ग्यारह श्लोक पढ़ने से तुरन्त ही पता चल जाता है कि कुछ दाल में काला है। महाशय पी० वी० काणे कहते हैं—In one breath Manu seems to permit niyoga (9/59-63) and immediately afterwards he strongly reprobates it, (9/64-69) 66वें श्लोक में वेन राजा की कथा देने से यही प्रकट होता है कि पीछे से ये श्लोक जोड़ दिये गये।

(4) अध्याय 5 में मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध है—

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ *(5/48)*
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ *(5/49)*

यहाँ न केवल मांस का निषेध ही है, किन्तु प्रबल युक्ति भी दी गयी है अर्थात् बिना प्राणियों की हिंसा किये मांस मिलता ही नहीं और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग का साधन नहीं, इसलिए मांस वर्जनीय ही है। इस युक्ति के अनुसार न केवल साधारण मांस-भक्षण का ही निषेध है, किन्तु यज्ञ में भी

मांस डालना या खाना निन्दित है, क्योंकि यज्ञ में बलि देने से भी तो प्राणियों की हिंसा होती है। फिर आगे चलकर मांस का सर्वथा ही निषेध किया है—

अनुमन्ता विशासिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ *(5/51)*

अर्थात् 'मांस खाने वाले को ही हिंसा का पाप नहीं लगता, किन्तु उसमें मारने वाला, बेचनेवाला, खरीदनेवाला, पकानेवाला आदि सभी सम्मिलित हैं।' इन स्पष्ट श्लोकों के होते हुए भी आगे के श्लोकों में मांस का विधान है—

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥ *(5/31)*

अर्थात् 'यज्ञ में मांस डालना 'दैव-विधि' है और बिना यज्ञ के मांस की प्रवृत्ति 'राक्षस विधि' है।' क्या बिना प्राणियों को हिंसा पहुँचाये यज्ञ में मांस डाला जा सकता है? यदि नहीं तो 'दैव विधि' और 'राक्षस विधि' में क्या भेद? इसी प्रकार 5/32 से 5/42 तक ऊटपटाँग बातें बताई गयी हैं। 5/40 में विचित्र युक्ति दी गयी है कि—

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः।

अर्थात् 'जो पशु-पक्षी यज्ञ के लिए मारे जाते हैं उनको दूसरे जन्म में उत्कृष्ट योनि मिलती है।' इसी प्रकार श्राद्ध में भी भिन्न-भिन्न पशुओं के वध का उल्लेख है। (देखो अध्याय 3/268, 269)

ये हैं कुछ वे स्थल जिनमें परस्पर-विरोध होने के कारण मानना ही पड़ेगा कि इनमें से एक मौलिक है और दूसरा क्षेपक, क्योंकि दो परस्पर-विरोधी बातें किसी एक ग्रन्थकार का मन्तव्य नहीं हो सकतीं।

वेद-विरोधिता—पाठकगण प्रश्न कर सकते हैं कि हमारे पास मिलावट जाँचने की कौन-सी तराजू है? इसलिए इस विषय में संक्षेप से कुछ लिख देना असंगत न होगा। 'मनुस्मृति' कोई असम्बद्ध, स्वतन्त्र पुस्तक नहीं। यह वैदिक साहित्य का एक ग्रन्थ है। वैदिक धर्म का प्रतिपादन ही इसका कार्य है। वेद ही इसका मूलाधार है। यह बात कल्पित नहीं है, किन्तु 'मनुस्मृति' से ही सिद्ध है। नीचे के श्लोक इसकी साक्षी हैं—

(1) **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।** *(2/6)*

(2) **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।** *(2/12)*

(3) **प्रमाणं परमं श्रुतिः।** *(2/13)*

(4) **वेदास्त्यागश्च''''** *(2/19)*

(5) **वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।**
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ *(2/16)*

(6) **वेद यज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।**
ब्रह्मचर्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यःप्रयतोऽन्वहम्॥ *(2/18)*

(7) **वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्॥** *(3/2)*

(8) **वेदभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।**
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥ *(11/245)*

(9) **आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।**
स्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ *(12/106)*

कई सहस्र वर्षों से वैदिक धर्म में विप्लव उत्पन्न हो गये और सबसे अधिक चोट वैदिक ग्रन्थों पर आई। किन्तु प्राचीन वैदिक धर्म के सिद्धान्त एक ऐसी कसौटी हैं, जिनके द्वारा वैदिक ग्रन्थों की मिलावट अधिकांश में कसी जा सकती है।

हम 'मनुस्मृति' की वेद-विरोधी मिलावटों को चार भागों में विभक्त करते हैं—

(1) मांस-भक्षण सम्बन्धी क्षेपक—ऊपर बताया जा चुका है कि मनुस्मृति का मौलिक सिद्धान्त अहिंसा है। वेद में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है।

यजुर्वेद कहता है—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। यजु०

अर्थात्—'प्रत्येक प्राणी को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए।' न केवल वैदिक किन्तु सभी धर्मों का आधार अहिंसा होनी चाहिए। यदि मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाने में संकोच न करे तो सदाचार के किसी भाग का पालन नहीं कर सकता। 'मनुस्मृति' ने इस बात को बहुत स्पष्ट रीति से कहा है, इसलिए जहाँ कहीं पशु-वध का विधान है, वह सब मिलावट है।

कुछ लोग समझते हैं कि यज्ञों में पशु-बलि विहित है। परन्तु 'मनुस्मृति' के मौलिक सिद्धान्त इस बात की भी पुष्टि नहीं करते। देखिए—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ *(3/68)*

यहाँ गृहस्थ के पाँच ऐसे पातकों का उल्लेख किया है जो प्रत्येक गृहस्थी को बिना जाने-बूझे करने पड़ते हैं, जैसे—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल का घड़ा। इनके प्रयोग से छोटे-छोटे कीड़े दबकर मर जाते हैं। गृहस्थियों को यह हिंसा, बिना इच्छा के ही करनी पड़ती है। वे नहीं चाहते कि किसी को पीड़ा दें, परन्तु पहुँच जाती है। जिस धर्म में अनजाने चींटियों के मर जाने से भी मनुष्य दोषी ठहरता हो, उसमें जान-बूझकर किसी को मार डालना कितना बड़ा पाप न होगा? इसी सूना-दोष को मिटाने के लिए एक प्रकार के दैनिक प्रायश्चित्त के रूप में महायज्ञों का विधान है—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ *(3/69)*

ये पाँच महायज्ञ ये हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ *(3/70)*

ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वयज्ञ और नरयज्ञ। लोग यह समझते हैं कि यज्ञ और पशु-वध का विशेष सम्बन्ध है। यज्ञ का अर्थ ही बहुत लोग मारना समझते हैं, और यही 'बलि' शब्द का अर्थ समझा जाता है। दुर्भाग्य का विषय है कि ये दोनों शब्द अपनी उत्कृष्टता से गिरकर इस अधोगति को पहुँच गये हैं। 'यज्ञ' यज् धातु से निकलता है जिसका अर्थ है देव-पूजा, संगतिकरण तथा दान; इन सबका मारने से क्या सम्बन्ध? कुछ लोग यहाँ तक समझते हैं कि नर-यज्ञ वह यज्ञ है जिसमें मनुष्य को मारकर उसके मांस की आहुति दी जाती है। इन भले आदमियों से पूछो कि क्या इसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्म को मारा जाता होगा और पितृयज्ञ में माता-पिता को? अर्थ का अनर्थ करनेवालों के लिए क्या कहा जाये! नरयज्ञ का पर्याय अतिथि-पूजन'। फिर भी लोग यज्ञ को हिंसा परक समझने लगे तो इसमें बेचारे शब्द का क्या दोष? इसी प्रकार बली का अर्थ है 'भूतयज्ञ' अर्थात्

चींटी-कौवे आदि को भोजन पहुँचाना। इसलिए पितृयज्ञ में पशु-हिंसा करने का विधान स्पष्टतया पीछे की मिलावट है। जिस समय महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया उस समय यज्ञों में पशुओं को मारकर चढ़ाना एक साधारण बात थी। इसी अत्याचार से दु:खी होकर महात्मा बुद्ध ने वैदिक यज्ञों का निषेध किया था, क्योंकि वस्तुत: वे यज्ञ वैदिक नहीं रह गये थे। यह वाम-मार्ग अर्थात् उलटे मार्ग का प्रचार था। प्रतीत होता है कि उसी समय या उसके पश्चात् 'मनुस्मृति' में यह मिलावट हुई।

(2) श्राद्ध-सम्बन्धी क्षेपक—मृत पितरों का श्राद्ध, तर्पण आदि—यह दूसरी मिलावट है। ऊपर बताया जा चुका है कि—

पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। *मनु० 3।70*

पितृयज्ञ को तर्पण कहते हैं। साधारण हिन्दू समझता है कि तर्पण मरे पितरों को पानी देने का नाम है। मनु के इस श्लोक से तो 'मृत पितरों' की गन्ध भी नहीं पाई जाती। इसी श्लोक का भाष्य करते हुए कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—

'अन्नाद्येनोदकेन वा इति तर्पण वक्ष्यति स पितृयज्ञः।'

अर्थात् 'तर्पण में अन्न और पानी देने का विधान आगे कहेंगे, यही 'पितृयज्ञ' है'। जिसके विषय में 'वक्ष्यति' (आगे कहेंगे) लिखा है, वह श्लोक यह है—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ *(3।82)*

अर्थात् 'पितरों को प्रीतिपूर्वक बुलाकर खाना, पानी, दूध, मूल फल से प्रतिदिन श्राद्ध करे।' इस श्लोक के होते हुए कौन कह सकता है कि यहाँ मृत पितरों को रोज बुलाने का विधान है? इन दोनों श्लोकों और कुल्लूक की टिप्पणी को देखकर प्रतीत होता है कि जिसको तर्पण कहते हैं वही श्राद्ध है। एक श्लोक में तर्पण शब्द आया है और दूसरे में श्राद्ध है। बात एक ही है, अर्थात् माता-पिता को प्रीतिपूर्वक बुलाकर उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करना। 'अन्नाद्येन उदकेन' का अर्थ 'खाना और पानी' ही हो सकता है। 'अन्नाद्य' वैदिक ग्रन्थों का एक परिचित शब्द है जो इसी अर्थ में आता है। मरे हुए पितरों को प्रीतिपूर्वक बुलाने का कुछ भी अर्थ नहीं। वे आ ही

कैसे सकते हैं? वैदिक सिद्धान्तानुसार तो उनका दूसरा जन्म हो जाता है और जो पुनर्जन्म को नहीं मानते वे भी मृतक आत्मा की कुछ-न-कुछ गति तो मानते ही हैं। उनके मत में भी मृतकों का बुलाना असम्भव है।

मृतक को पिण्डदान की प्रथा का आरम्भ विदेशों से हुआ—मृतकों को खाना-पानी पहुँचाने की प्रथा कहाँ से चली—यह कहना कठिन है। साधारणतया तो यह प्रथा बहुत पुरानी मालूम होती है। दो सहस्र वर्ष से तो अवश्य पुरानी है, इसलिए समस्त तत्कालीन साहित्य में इतस्ततः जिसके उदाहरण मिलते हैं। प्राणी की मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है—इसके विषय में प्राचीन मिस्र आदि देशों की जातियों में भिन्न-भिन्न मत थे। आत्मा के साथ प्रेम करते-करते हमको शरीर से भी प्रेम हो जाता है। यह शरीर का प्रेम ही है जिसके कारण लोगों ने मृतक की लाश का अनेक प्रकार से आदर-सम्मान करने की प्रथा डाल ली। वैदिक सिद्धान्त तो था कि—

'भस्मान्तँ्शरीरम्।' *(यजुर्वेद 40।15)*

अर्थात् 'मरने पर लाश को जला देना चाहिए।'

मनु 2/16 से भी ऐसा ही पाया जाता है। यही सबसे उत्तम रीति थी, क्योंकि पाञ्च-भौतिक शरीर को बिना सड़े-गले अपने कारण में लय कराने की अन्य कोई विधि नहीं है। परन्तु जो लोग मृत्यु के शव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे जैसे बन्दरिया अपने मरे हुए बच्चे को गले से चिपटाये फिरा करती है। शव को सुरक्षित रखने के कई प्रकार प्रचलित हो गये। मिस्र देश में लाश के भीतर मसाला लगाकर शरीर के ऊपरी भाग को सुरक्षित रखने की प्रथा थी। कुछ लोग समझते थे कि मृतक की आत्मा के निमित्त परलोक-यात्रा के लिए खाना-पीना रख देने की आवश्यकता है। जैसे यात्रा पर चलते समय लोग साथ भोजन बाँध लेते हैं, इसी प्रकार लोग लाश के साथ भोजन या पिण्ड रखने लगे।

'पिण्ड' शब्द का मौलिक अर्थ—'पिण्ड' शब्द का मौलिक अर्थ (जीवित के लिए) भोजन तथा जैसा कि नीचे के उदाहरणों से ज्ञात होता है—

1. तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः। स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डामिवामिषस्य॥ *(रघुवंश 2।59)*

2. न शोच्यस्तत्र भवान् सफलाकृतभर्तृं पिण्डः।

(मालविकाग्निमित्र अंक-पाँच)

3. लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनं च। श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।

(भर्तृहरि नीतिशतक 31)

जब ये लोग लाश के साथ पिण्ड रखते थे तो यह जानने का यत्न नहीं करते थे कि यदि आत्मा यात्रा पर चली गयी, तो भी वह लाश से तो निकल ही गयी। लाश के साथ भोजन रखने से क्या प्रयोजन? आत्मा मरने के पश्चात् कहीं जाये, चाहे नष्ट हो जाये, चाहे अन्यत्र चली जाये, कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसका शरीर के साथ सम्बन्ध टूट गया। जीवन और मृत्यु में क्या भेद है? यही न कि जब तक जीव शरीर के साथ है, जीवन है; जब साथ छूट गया तो मृत्यु हो गयी। इस प्रकार मृतक के शव के साथ भोजन या पिण्ड रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। परन्तु मनुष्य में मोह होता है। वह अज्ञानवश मृत्यु के तत्त्व को भूल जाता है और मृतक की लाश से ही प्रेम करने लगता है। कब्रों पर फातिहा पढ़ने की प्रथा भी इसी अज्ञान की द्योतक है। लोग कब्रों पर चद्दर चढ़ाकर समझते हैं कि आत्मा उस कब्र में कहीं चिपटी हुई है। 'पिण्ड' के ये मौलिक अर्थ पीछे से बदल गये और पिण्ड शब्द आटे के उन पिण्डों का अर्थ देने लगा, जो आजकल मृतक के नाम पर दिये जाते हैं।

साधारणतया तीन पीढ़ियों तक श्राद्ध किया जाता है। इससे भी प्रतीत होता है कि जीवित पिता-पितामह आदि के श्राद्ध-तर्पण का ही बिगड़कर यह रूप हो गया है। लिंग-शरीर को इन तीन पीढ़ियों तक ही क्यों लाभ पहुँचता है और लिंग-शरीर इतने दिनों पुनर्जन्म के लिए क्यों ठहरा रहता है—यह एक ऐसी समस्या है जो मृतक-श्राद्ध के ढकोसले को आगे बढ़ने नहीं देती।

पुत्र नरक से कैसे बचाता है ?—कुछ लोगों ने 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति को मृतक श्राद्ध के पक्ष में लिया है। 'पुत्र' कहते हैं 'पुत्' नाम नरक से जो बचावे। इस पर लोग कहते हैं कि पुत्र जब श्राद्ध करेगा, तभी पिता नरक से बच सकेगा। यदि किसी का पुत्र श्राद्ध नहीं करता तो उसका नरक से त्राण भी

नहीं होने का। परन्तु ऐसी धारणा करनेवाले कर्म के सिद्धान्त को नहीं समझते। मोनियर विलियम्स ने इस विषय में एक चुभता हुआ नोट दिया है—It is wholly inconsistant with the true theory of Hinduism that the Shraddha should deliver a man from the consequence of his own deeds. Manu says 'Iniquity one practised, like a seed fails not to yield its fruit to him that wrought it. (iv 173) but Hinduism bristles with such isconsistancies. (Brahmanism, page 28)

अर्थात् 'यह बात हिन्दू धर्म के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है कि श्राद्ध के द्वारा मनुष्य अपने निज कर्मों के फल से बच सके, क्योंकि मनु ने 4/173 में लिखा है कि एक बार किया पाप बीज के समान फल लाने से नहीं रुक सकता। परन्तु हिन्दू धर्म इस प्रकार के परस्पर-विरोधों से भरा पड़ा है।'' वस्तुतः बात भी ठीक है। जब मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही दूसरी योनि पाता है तो उसके पुनर्जन्म को उसकी सन्तान के कर्मों के अधीन कर देना कहाँ का न्याय है?

शायद पाठक कहें कि फिर पुत्र को नरक से बचाने वाला क्यों कहा? क्या निरुक्त में यास्क ने 'पुत्र' की यह व्युत्पत्ति नहीं की? हमारा उत्तर यह है कि व्युत्पत्ति तो ठीक है, केवल समझ का फेर है। प्रथम तो यह धारणा भ्रम-मूलक है कि 'पुत्र' केवल लड़के को ही कहते हैं, 'लड़की' को नहीं।

यास्क के निरुक्त में यह श्लोक मिलता है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(3/4)*

अर्थात् 'धर्म के अनुसार लड़का और लड़की दोनों को बिना विशेषता के दायभाग मिलता है। ऐसा स्वायम्भुव मनु ने कहा था, दूसरे, सन्तान को नरक का त्राता कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तानोत्पत्ति करके और उसका यथोचित पालन करके मनुष्य 'पितृ-ऋण' से छूट जाता है। बिना ऋण चुकाये मोक्ष का भागी होना कठिन है। सन्तान को धर्मात्मा और सुशिक्षित छोड़ जाना एक प्रकार से मृतक के आत्मा के लिए भी लाभदायक है। क्योंकि पिता मरकर जब जन्म लेगा तो उसी प्रकार के घरों में, जैसा उसने

छोड़ा है। यदि सन्तान अधर्मी और विद्याहीन है तो आने वाले समाज की अवस्था भी बुरी होगी, और जो आत्मा मरकर जन्म लेगी उसको इसी बुरे समाज नरक-रूपी गढ़े में पड़ना पड़ेगा जिससे उसका अगला विकास बन्द हो जायेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सन्तान मनुष्य को नरक से बचाती है; परन्तु मृतक को पिण्ड देकर नहीं, किन्तु उत्तम सन्तानरूपी महायज्ञ के निष्पादन द्वारा सामाजिक वातावरण को शुद्ध करके। यदि इस दृष्टि से देखा जाता तो मोनियर विलियम्स को हिन्दू धर्म में इतना विरोध दिखाई न पड़ता। परन्तु जब हिन्दुओं ने स्वयं ही अपने सिद्धान्तों को बिगाड़ रखा हो, तो विदेशियों का क्या दोष?

भारत में यह प्रथा कब से?—भारतवर्ष में यह प्रथा कब से चली—इसमें सन्देह है। भारतवर्षीय पहले भी पुनर्जन्म को मानते थे और अब भी मानते हैं। बौद्ध और जैन मतों ने वेदों को मानना त्याग दिया था, परन्तु पुनर्जन्म पर वे भी उसी भाँति विश्वास रखते थे। दूसरे देशों के अतिप्राचीन इतिहास तो पुनर्जन्म का पता देते हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को त्याग दिया और वे मृतकों की आत्माओं की भाँति-भाँति से पूजा करने लगे। इसका प्रमाण पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के इतिहास से मिलता है। बौद्धमत का जब चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों में प्रचार हुआ तो बौद्ध लोग भी मृतक प्राणी की आत्मा के उपासक बन गये। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके उपासक उनको पूजने लगे थे। इस पूजा का यही अर्थ है कि वे मृतक की आत्मा को पूजते थे। इस प्रकार भारत में इस प्रथा का प्रचलन मुख्यतया बौद्धमत की देन है। इसका एक चिह्न यह है कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न तीर्थस्थानों में जो भिन्न कारणों से वर्तमान प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, गया का तीर्थ-स्थान केवल मृतक-श्राद्ध और तर्पण के लिए प्रसिद्ध है। 'गया' के तीर्थ होने का पता बुद्ध भगवान से पहले नहीं मिलता।

'मनुस्मृति' में तो 'गया' का नाम है ही नहीं। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में श्राद्ध-तर्पण के सम्बन्ध में 'गया' का नाम आया है—

यद् ददाति गयास्थश्च सर्वमान्त्यमश्नुते।
तथा वर्षात्रयोदश्यां मद्यासु च विशेषतः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति 1।261)

'याज्ञवल्क्य स्मृति' स्पष्टतया बुद्ध भगवान के बहुत पीछे की है। हमारी धारणा है कि 'गया' की इस कीर्ति के दाता बुद्ध भगवान ही थे। जब बौद्धों और पौराणिकों में विग्रह आरम्भ हुआ और बौद्धों को पराजय तथा पौराणिकों को विजय प्राप्त हुई तो बौद्धों का मन्दिर इनके हाथ लग गया और अभी तक उसी तरह चला आता है। पौराणिक धर्म की नयी विशेषताओं का निरीक्षण करने से भली प्रकार ज्ञात होता है कि प्राचीन वैदिक धर्म के विकृत रूप में यदि बौद्ध और जैन मत की पुट दे दी जाये, तो परिणाम पौराणिक मत होगा। पौराणिक मत के ग्रन्थों और बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों में इस बाह्य रूप में बहुत बड़ा सादृश्य है। देवी-देवता, अवतार, मूर्तियाँ, मन्दिर, पूज्य पुरुषों के जन्म तथा आयु से सम्बद्ध गाथाएँ सब मिलते-जुलते हैं। इसी युग में वैदिक ग्रन्थों में मिलावट भी बहुत हुई है। हमारी धारणा है कि श्राद्ध और तर्पण का मृतकों के लिए विधान इसी मिलावट के फलस्वरूप है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि यदि मिलावट होती तो उनके प्रमाण इस बहुतायत से न मिलते। वे दो बातों पर विचार नहीं करते। प्रथम तो बौद्ध मत की आँधी का वेग बहुत जोर का था। उसने भारतीय जीवन के सभी विभागों में अपना हस्तक्षेप किया था। दूसरे यह कि इस युग को दो सहस्र वर्ष के लगभग हो गये। इतने समय में जातियाँ कहीं की कहीं पहुँच जाती हैं। यदि पिछले वर्षों के केवल हिन्दी के साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन किया जाये तो पचास वर्ष पहले के और अब के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा भेद मिलेगा। यूरोपियन जातियों के साहित्य में सौ वर्ष पहले विकासवाद का चिह्न भी न था। डार्विन के पश्चात् विकासवाद ने सभ्य देशों के साहित्य के सभी विभागों पर इतना बलपूर्वक आक्रमण किया कि अब काव्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शन सभी पर विकासवाद का ठप्पा है। इसलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है, यदि पितृ-यज्ञ को जीवित पितरों के स्थान पर मृत-पितरों के लिए मान लिया गया। मनुस्मृति का निम्न श्लोक विचारणीय है—

एकमप्याशयेद् विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत् कंचिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥

अर्थात्—"पञ्च-यज्ञ-सम्बन्धी पितृ-यज्ञ में एक ब्राह्मण को भी

भोजन करना पर्याप्त है। परन्तु वैश्वदेव के सम्बन्ध में किसी ब्राह्मण को भोजन न करावे।''

यह श्लोक और आगे के कई श्लोक मृतक-श्राद्ध के गौरव के हेतु ही जोड़े गये हैं और इस अध्याय के अन्त में तो मृतक-श्राद्ध की ऐसी घृणित विधियाँ दी गयी हैं जो आजकल के पौराणिकों को भी चक्कर में डालती हैं और उनको कहना पड़ता है कि 'मनुस्मृति' कलियुग के लिए है ही नहीं।

(3) वर्ण-सम्बन्धी क्षेपक—तीसरी मिलावट वर्णों को जन्म के अनुसार निश्चित करने के सम्बन्ध में है।

आजकल हिन्दू जाति बहुत-सी उपजातियों में विभक्त है। यह सब जन्म पर निर्भर है, अर्थात् ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होता है और कान्यकुब्ज ब्राह्मण का लड़का कान्यकुब्ज। क्षत्रिय का लड़का क्षत्रिय होता है। इसी प्रकार नाई का लड़का नाई, कहार का कहार। वेदों में इन उपजातियों के नाम तो हैं नहीं। हाँ, चार वर्णों का वर्णन आता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। हिन्दुओं में यह जनश्रुति प्रचलित है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरू से और शूद्र पैर से। परन्तु आज तक किसी भले मानस ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि इसका अर्थ क्या हुआ? ईश्वर का मुख क्या है और उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हो गये? ईश्वर का पैर क्या है और उससे शूद्र कैसे उत्पन्न हो गये? यह आलंकारिक भाषा है या वास्तविक? यदि आलंकारिक है तो वास्तविक अर्थ क्या है? यदि वास्तविक है तो अर्थ क्या हुआ? यदि कोई कहे कि आकाश के मुख से हाथी उत्पन्न हो गया तो पूछना चाहिए कि आकाश के मुख से क्या तात्पर्य है और उससे हाथी कैसे हो सकता है? तमाशा यह है कि सैकड़ों वर्षों से यह कहते चले आते हैं कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए और शूद्र पैरों से। परन्तु किसी ने यह नहीं पूछा कि ईश्वर का पैर क्या है और उससे स्त्री या पुरुष कैसे उत्पन्न होते हैं। लोग कहते हैं कि वेद में ऐसा लिखा है। जिस वेदमन्त्र का प्रमाण दिया जाता है वह यह कहता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ *(यजु० 31/11)*

शब्दार्थ यह है—(1) ''ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्।'' ब्राह्मण इसका मुख था। (2) ''बाहू राजन्यः कृतः'' क्षत्रिय भुजा बनाया गया। (3) ''ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः'' जो वैश्य है वह उसकी जंघा थी।

इसमें यह नहीं लिखा गया कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाँह से और वैश्य जंघा से। अर्थ निकालने के दो ही उपाय हैं—या तो शब्दों से सीधा अर्थ निकलता हो या आलंकारिक अर्थ लेने के लिए कोई विशेष कारण हो। प्रत्येक शब्द के आलंकारिक अर्थ भी नहीं लेने चाहिए जब तक सीधा अर्थ लेना अप्रासंगिक न हो, और ऐसे आलंकारिक अर्थ भी न लेने चाहिए जो असम्भव या निरर्थक हों।

अब देखना चाहिए कि 'ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, ऐसा अर्थ निकालने के लिए क्या हेतु है?' 'मुख' का अर्थ 'मुखात्' नहीं हो सकता—यह स्पष्ट है, न 'आसीत्' का अर्थ 'उत्पन्न हुआ' हो सकता है। 'ऊरू तत् अस्य यद् वैश्यः' जो वैश्य है वही ऊरू है' वाक्य की इस शैली से भी स्पष्ट है कि ऊरू से वैश्य के उत्पन्न होने की कल्पना बुद्धि-शून्य है। फिर यह सब अर्थ कैसे ले लिया गया? इसमें सन्देह नहीं कि समस्त पौराणिक साहित्य इस प्रकार की प्रतिपत्ति से व्याप्त हो रहा है, परन्तु इसको वेदों का आधार तो नहीं मिल सकता। मन्त्र के चौथे पाद में अवश्य 'पद्भ्यां शूद्रः अजायत'—'पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ' ऐसे शब्द हैं। परन्तु इस चौथे पाद की प्रत्यनुवृत्ति पहले तीनों तक ले जाना ठीक नहीं। कल्पना कीजिए कि यदि चारों पादों में ऐसा ही होता कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखादजायत' इत्यादि, तो भी प्रसंग को देखकर कुछ और अर्थ लेना पड़ता, क्योंकि मुख या बाहू से तो मनुष्य उत्पन्न हो नहीं सकते और न पैरों से। पूर्वापर देखने से अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं, क्योंकि जो मन्त्र हमने ऊपर दिया है उससे पहला मन्त्र है—

यत पुरुषं व्युदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।

(यजु० 31 / 10)

शब्दार्थ इस प्रकार हैं—यत् = जब। पुरुषं = पुरुषं को। व्यदधुः = बनाया। कतिधा = किस-किस प्रकार से। व्यकल्पयन् = कल्पना की। मुखं

किं अस्य आसीत् = इसका मुख क्या था? किं बाहू = भुजाएँ क्या थीं? किं ऊरू = जंघाएँ क्या थीं? पादा उच्येते = दोनों पैर क्या कहे जाते हैं अर्थात् किस नाम से पुकारे जाते हैं?

वेदों में वर्ण—यहाँ तो शूद्र के सम्बन्ध में भी न पञ्चमी विभक्ति है, न उत्पन्न होने का सूचक शब्द है। केवल चार प्रश्न हैं कि पुरुष की किस-किस रूप में कल्पना की गयी है, अर्थात् किसको मुख माना गया, किसको बाहू, किसको ऊरू, किसको पैर? इन प्रश्नों से उपमालंकार स्पष्ट है और उसी के अनुसार अर्थ लेने चाहिए। उव्वट ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

1. कति प्रकारं विकल्पितवन्तः।

2. ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः। *(उव्वट)*

महीधर कहते हैं—

किं च पादौ उच्येते पादावपि किमास्तामित्यर्थः। *(महीधर-भाष्य)*

इनसे स्पष्ट है कि यहाँ मुख आदि अंगों से ब्राह्मणादि के उत्पन्न होने की कथा न केवल असंगत किन्तु असम्भव भी है, और कोई थोड़ी-सी बुद्धिवाला मनुष्य भी ऐसी अण्ड-बण्ड कल्पना न कर सकेगा। हम महीधर के इन शब्दों से सहमत हैं कि—

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते।

अर्थात्—'प्रश्न-उत्तर रूप में ब्राह्मण आदि की सृष्टि का कथन करने के लिए ब्रह्मवादियों के प्रश्न कहे जाते हैं।'

इन मन्त्रों का सीधा, सुसंगत तथा युक्ति-युक्त अर्थ यह है कि यह जो पुरुष-संघ या मनुष्य-जाति है उसमें मुख ब्राह्मण हैं, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पैर शूद्र, अर्थात् सबसे उत्कृष्ट ज्ञानवान् नेता ब्राह्मण कहे जाने के योग्य हैं। बाहू के तुल्य रक्षा करनेवाले क्षत्रिय कहे जाने के योग्य हैं। ऊरू के तुल्य धन-सञ्चय करनेवाले वैश्य और निम्न श्रेणी के लोग शूद्र। 'मनुस्मृति' के इस श्लोक से भी यही ज्ञात होता है—

विप्राणां ज्ञानतो-ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ *(2/155)*

'ब्राह्मणों में बड़प्पन ज्ञान की अपेक्षा से है, क्षत्रियों में शक्ति की अपेक्षा से, वैश्य में धन-धान्य से और शूद्र में जन्म से।' अर्थात् जन्म के

द्वारा बड़प्पन मनुष्य की निकृष्टतम वृत्ति है। नीचे के श्लोकों में ब्राह्मण आदि के जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी इसी दृष्टिकोण को बताते हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(मनु० 1।89-92)

'मनुस्मृति' पर प्रायः लांछन लगाया गया है कि इसमें जाति-पांति के भेदभाव को स्थान दे दिया गया है। हिन्दू जाति की वर्तमान अवस्था को देखते हुए यह आक्षेप ठीक-सा प्रतीत होता है। परन्तु यह केवल प्रतीति-मात्र है। हम प्राचीन काल को देखते समय वर्तमान काल की ऐनक लगा लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हिन्दू जाति की वर्तमान दशा का उत्तरदायित्व 'मनुस्मृति' पर नहीं, किन्तु उन लोगों पर है जिन्होंने प्रमादवश मनु के उपदेशों को भुला दिया या स्वार्थवश उसमें क्षेपक मिला दिये। लोग कहते हैं कि मनु ने ब्राह्मणों को उच्चपद क्यों दिया? वह आक्षेप इसलिए है कि हम ब्राह्मण का अर्थ 'ब्राह्मणवंशज' ले लेते हैं। यदि ब्राह्मण का अर्थ उस कर्तव्य से युक्त मनुष्य को लें जो मनु ने बताया है, अर्थात्—'अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह' तो प्रत्येक मनुष्य मनु से सहमत अपना गौरव समझेगा। प्रत्येक जाति और देश में ऐसे लोग सर्वोपरि समझे जाते हैं।

एक आख्यायिका में 'शतपथ ब्राह्मण' में ब्रह्म और क्षत्र की बड़ी उत्तम व्याख्या करते हुए उस शैली के अनुसार इतनी बातें बताई गयी हैं—

(1) ब्राह्मण और क्षत्रिय आत्मिक वृत्तियाँ हैं। 'सोचने' की वृत्ति को ब्रह्म कहते हैं और 'करने' की वृत्ति को क्षत्रिय।

(2) बिना सोचे कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना ब्राह्मण के क्षत्रिय सफल नहीं हो सकता। इसलिए ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा उच्च है।

(3) जब दोनों वृत्तियाँ अलग-अलग रहती हैं तो असफलता रहती है। जब ये दोनों मिल जाती हैं तो सफलता होती है।

आजकल भी सभी सभ्य जातियाँ अपनी ब्रह्मशक्ति का मान करती हैं। सर्वोपरि ब्रह्मशक्ति ही है। वह मस्तिष्क है। बिन मस्तिष्क के भुजाएँ कुछ नहीं कर सकतीं। जिस मूल तत्त्व को 'शतपथ ब्राह्मण' ने आख्यायिका के रूप में वर्णन किया है, और जिसकी व्याख्या 'मनुस्मृति' में विद्यमान है, उसी मूलतत्त्व का प्रचार हम वर्तमान सभ्य जातियों में पाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि वैदिक सभ्यता के शत्रु गुण को भी अवगुण मानकर हिन्दू जाति की वर्तमान दुर्दशा का दोष मनु के ऊपर थोप रहे हैं। इस दोष का कारण वे क्षेपक हैं जिनमें चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त बहुत-सी अन्तर्जातियाँ गिना दी गयी हैं, जो सर्वथा जन्म के ही आश्रित हैं।

हाँ, हमको यह बात अस्वीकार नहीं है कि जो रियायतें केवल उच्चकोटि के आचरणशील वेदज्ञ के लिए ही थीं, वे साधारण मूर्ख ब्राह्मण कहलानेवाले व्यक्तियों को भी दी जाने लगीं और इससे जाति का सत्यनाश हो गया। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि इन नामधारी ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-सामन्तवाद के युग में अपना उल्लू सीधा करने के लिए कुछ ऐसे घृणित नियम भी बना दिये जिससे अन्य लोगों का सर्वथा अपमान और स्वयं इनका अध:पतन हो गया, जैसे दक्षिण में ब्राह्मण का अधिकार हो गया कि वह शूद्र स्त्रियों से संसर्ग कर सके और शूद्र स्त्रियाँ पाप के भय से उसका विरोध न कर सकें। दाल्भ्य ऋषि की कथा है कि उसने किसी राजा से कहा कि यदि अमुक पाप से बचना चाहते हो तो तुम्हारी रानी किसी ब्राह्मण के साथ सम्पर्क करे। ऐसी घृणित बातों की जितनी निन्दा की जाये थोड़ी है। ऐसा उपदेश देनेवाले ऋषि नहीं, किन्तु धूर्त थे। परन्तु इनका मनु या 'मनुस्मृति' से कोई सम्बन्ध नहीं और 'मनुस्मृति' से ऐसा कूड़ा निकालकर फेंक देना चाहिए।

(4) दण्डविधान-सम्बन्धी क्षेपक—चौथी बात दण्डविधान की है। मनु का दण्डविधान सरल, समतायुक्त तथा स्वाभाविक है। आततायी को कठोर दण्ड देने के पीछे स्पष्ट ही यह भावना है कि समाज में अन्याय न पनपने पाये। महात्मा कन्फ्यूशस ने कहा था कि मेरे राज्य के सुख का मूल कारण यह है कि मेरे यहाँ धर्मात्मा सत्कृत होते हैं और अन्यायी दण्डित

होते हैं। इस प्रकार अन्यायी का दमन तो आवश्यक है, पर अतिवाद सर्वत्र वर्जित है। पीछे के सुधारकों ने, या तो सुधार को तीव्र करने के लिए या पक्षपात में फँसकर अनेक स्थलों पर दण्डविधान को विषम तथा अन्यायपूर्ण बना दिया है। शूद्रों के लिए व्यर्थ ही कड़े दण्डों का विधान है जो सर्वथा अनुचित है, और कहीं-कहीं तो दण्डविधान के साथ-साथ व्याख्यान-रूप में श्लोक-के-श्लोक मिला दिये गये हैं। यह बात उन-उन स्थलों को देखने से विदित हो जाती है। 'मनुस्मृति' के माथे से इस कलंक को दूर करने का एकमात्र उपाय है कि इन वेद-विरोधी स्थलों को छाँट दिया जाये।

मनु और स्त्रियाँ—वैदिक सभ्यता के विरोधियों ने वैदिक सभ्यता के प्रत्येक गुण को अवगुण सिद्ध करने का यत्न किया है और बहुत-से कल्पित अवगुण वैदिक सभ्यता के मत्थे मढ़ दिये हैं। ये विरोधी नित्यप्रति वैदिक धर्मियों में असन्तोष का बीज बोते रहते हैं। इनमें से एक है 'स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न'। कहा जाता है कि मनु ने स्त्री के पद को मनुष्य-समाज में बहुत नीच माना है। बहुत पढ़ी-लिखी हिन्दू रमणियाँ हिन्दू धर्मग्रन्थों के प्रति इसलिए भी घृणा प्रकट करने लगी हैं। यह आक्षेप इतनी कोटियों में विभक्त हो सकता है—

(1) हिन्दू घरों में स्त्रियों को नीच समझा जाता है।

(2) उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।

(3) उनको सदा पुरुषों के अधीन रहना होता है।

(4) उनको पैतृक सम्पत्ति में कुछ भाग नहीं मिलता।

(5) सदाचार के नियम स्त्रियों के लिए पुरुषों की अपेक्षा अधिक कड़े हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न देशों में स्त्रियों की स्थिति के भिन्न-भिन्न नियम रहे हैं। आज से कुछ दिनों पूर्व भारतवर्ष में स्त्रियों की दशा अवश्य ही दयनीय थी। पुरुषों के अत्याचार बहुत-बहुत बढ़ गये थे। परन्तु आक्षेप करनेवाले दो बातों को भूल जाते हैं। पहली यह कि स्त्रियों के इस पतन के लिए वेद या 'मनुस्मृति' उत्तरदाता नहीं है। दूसरी यह कि न केवल भारतवर्ष ही, किन्तु अन्य देशों और जातियों में भी स्त्रियों की दशा वैसी ही बल्कि उससे भी बदतर थी। स्त्रियों में वैदिक धर्म

के प्रति घृणा उत्पन्न करने का विशेष काम ईसाइयों की ओर से होता है जब कि तमाशा यह है कि स्त्रियों की अधोगति को जारी रखने में यहूदी, ईसाई तथा उनसे उत्पन्न हुए मतों का ही सबसे बड़ा हाथ रहा है। इनका यह सिद्धान्त कि हव्वा को आदम की पसली से बनाया, आदम के पीछे बनाया और आदम के लिए बनाया, विषैली गैस की तरह समस्त वायुमण्डल में प्रविष्ट हो गया है।

बाइबल की तरह वेद यह नहीं मानता कि स्त्री पुरुष के पीछे हुई, न यह मानता है कि उसके शरीर से हुई और न यह मानता है कि पुरुष के लिए हुई। पुराणों में यह तो आया है कि देवी से ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न हुए। वह भी वैदिक धर्म के विरुद्ध है, परन्तु उससे कम से कम स्त्री की उत्कृष्टता ही सिद्ध होती है।

कुछ स्त्रियाँ अंग्रेजी शब्द better-half की बाहरी रोचकता पर मुग्ध हो जाती हैं। उनको क्या पता कि इस खुशामद के पीछे भी विलासिता छिपी हुई है, जो स्त्रियों के पद को ऊँचा नहीं होने देती। भारतवर्ष का आदर्श तो यह था कि न पुरुष better-half (उत्कृष्टार्द्ध) है, न स्त्री। दोनों एक-दूसरे के बराबर हैं। रथ के दो पहियों का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। ऋग्वेद का मन्त्र यही आशय प्रकट करता है—

माता पितरमृत आवभाज। *(ऋ० 1।164।8)*

'ऋत' अर्थात् प्राकृतिक नियम में 'माता' अर्थात् स्त्री और 'पिता' अर्थात् पुरुष को बराबर-बराबर बाँटा हुआ है। इसीलिए तो उसको पुरुष की अर्द्धांगिनी कहते हैं। वह पीछे से नहीं बनाई गयी, किन्तु उसकी उत्पत्ति साथ-साथ हुई है।

वेद में स्त्री की पदवी बहुत ऊँची है। वह अपने को पति की दासी नहीं कहती। वह कहती है—

(1) अहं तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।

मैं बला अर्थात् बलवाली हूँ (अबला नहीं)। मैंने पति को जीता है।

(2) अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। *(ऋ० 10।159।102)*

मैं केतु हूँ। मैं मूर्द्धा हूँ। मैं उग्र निर्णायक हूँ।

अब मनुस्मृति पर दृष्टि डालिए—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ *(3/56)*

जहाँ स्त्रियों का मान होता है वहाँ देवों का निवास है। जहाँ मान नहीं होता, वहाँ के सब कामों में असफलता होती है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ *(3/55)*

अर्थात् जो पिता, भाई, पति, देवर आदि अपना कल्याण चाहते हैं, उन सबको चाहिए कि स्त्रियों का सम्मान करें और उनको विभूषित करते रहें।

मनु को इस आदेश के करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वे पुरुष की प्रकृति को जानते थे। पुरुष शरीर की अपेक्षा से बलवान् होते हैं। उनके लिए अत्याचार करने और स्त्री को दबाने की अधिक सम्भावना है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥ *(3/57)*

जिस कुल में स्त्रियों को कष्ट दिया जाता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जहाँ स्त्रियों को कष्ट नहीं होता, वहाँ अवश्य वृद्धि होती है।

इन श्लोकों में तो स्त्रियों को नीच, शूद्र या दयनीय समझने की गन्ध भी नहीं है। हाँ, नवें अध्याय के कुछ श्लोक हैं जिनका अर्थ ऐसा लगाया जा सकता है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ *(9/3)*

अर्थात् बाल्य अवस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति, बुढ़ापे में पुत्र। स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है।

परन्तु आक्षेप करनेवाले भूल जाते हैं कि स्त्री जाति को रक्षा की कितनी आवश्यकता है। वह शरीर से निर्बल है। उसके लिए रक्षक या बॉडीगार्ड चाहिए जो उसको आपत्तियों से बचाता रहे। आजकल जिन सभ्य देशों की दुहाई दी जाती है वहाँ भी स्त्रियों की रक्षा के लिए विशेष सामाजिक नियम हैं, क्योंकि उनको दुष्टों से अधिक भय है। मनु ने यदि स्त्री के कल्याण के लिए उसकी रक्षा का भार उसके पुरुष-सम्बन्धियों को

सौंप दिया तो बुराई क्या की? पुरुष से रक्षा की आशा रखना स्त्री का अधिकार है जो उसे सभ्यता के नाते प्राप्त है। यह उसके लिए बन्धन नहीं। इसीलिए तो मनु ने स्त्रियों के सम्बन्धियों को रक्षा न करने पर अपराधी ठहराया। देखिए अगला श्लोक—

कालेऽदाता पिता वाच्यो, वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुरक्षिता॥ *(9/4)*

अर्थात् 'जो पिता समय पर कन्या का विवाह न करे, जो पति समय पर अपनी स्त्री को रति-सुख न दे, जो पुत्र अपने पिता की मृत्यु पर अपनी माता के संरक्षण का भार अपने ऊपर न ले वह दोषी और अपराधी है।' इससे यह सिद्ध तो नहीं होता कि स्त्री को बेड़ियों से जकड़ दिया गया। यदि स्त्रियों में सौंदर्य अधिक है, यदि इस सौंदर्य के कारण उनके लुट जाने की अधिक सम्भावना है, यदि सम्भव है कि बदमाश लोग उन पर अत्याचार कर सकें और यदि इन आपत्तियों से बचाने के लिए समाज की ओर से उनकी रक्षा का भार किसी को सौंप दिया जाये तो इससे निन्दा सिद्ध नहीं होती। कहा जा सकता है कि पिता, पति तथा पुत्र ने अपनी इस कर्तव्यपरायणता के बहाने उनको कैद कर दिया। उनको परदे में जकड़ दिया। उनको अन्यान्य विधि से तंग किया। परन्तु यह तो उनके अधिकारों का दुरुपयोग था।

अच्छा कल्पना कीजिए कि स्त्री को सर्वथा इतना स्वतन्त्र कर दिया जाये कि पिता, पति या पुत्र उसकी रक्षा के भार से मुक्त हो जायें तो क्या दशा होगी? कुछ नयी रोशनी की स्त्रियाँ कहेंगी कि अच्छा तो है, हमको छोड़ दो, हम सब-कुछ कर लेंगी। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि इन स्त्रियों को अपनी तथा पुरुषों की प्रकृति का पूरा ज्ञान नहीं है। सभी चमकनेवाली चीजें सोना नहीं हैं। हम नित्यप्रति देखते हैं कि सभ्य तथा असभ्य सभी देशों में स्त्रियों को ठगने के लिए क्या-क्या जाल नहीं रचे जाते। भेद केवल इतना है कि कहीं उनको फँसाने के लिए लोहे के पिंजड़े बनाये जाते हैं और कहीं सोने के। सोने के पिंजड़ों को देखकर युवतियाँ खुश हो जाती हैं। परन्तु उनको शीघ्र ही पता चल जाता है कि सोने के पिंजड़े लोहे के पिंजड़े से अधिक कड़े हैं।

रही यह बात कि स्त्रियों की रक्षा का यह अर्थ नहीं कि उनको बाँधकर रखा जाये। यह तो ठीक ही है। मनु ने तो इसके विरुद्ध यह नियम भी बना दिये थे जिससे ये रक्षक इस 'अति' को न कर सकें। मनुस्मृति स्वयं कहती है—

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्। *(9/10)*

अर्थात् कोई जबरदस्ती बाँधकर स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता।

मनु ने न केवल स्त्रियों की रक्षा न करने से पिता, पति और पुत्र को दोषी ठहराया है, प्रत्युत कई अवस्थाओं में एक के संरक्षण का भार दूसरे पर सौंपा है, जैसे विद्वान् के भूखों मरने से राजा को दोष लगता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् को राजा के अधीन कर दिया। आजकल स्त्रियाँ जिस स्वच्छन्दता की इच्छुक हो रही हैं वह शीघ्र ही उनकी आँखें खोल देगी, क्योंकि यह उन्हीं के लिए भयानक है। सैकड़ों लड़कियाँ इस स्वच्छन्दता के कारण सभ्य देशों में अकथनीय कष्ट उठा रही हैं। आरम्भ में तो झूठी स्वच्छन्दता के लोभ में आकर वे प्रसन्न हो जाती हैं, परन्तु शीघ्र ही उनको अपनी भूल मालूम हो जाती है।

दायभाग का प्रश्न—अब रहा दायभाग का प्रश्न। लोगों को शिकायत है कि स्त्रियों को हिन्दू धर्म में अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी नहीं मिलता। यह एक मौलिक प्रश्न है और इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

'मनुस्मृति' वेदमूलक है, अतः सबसे पूर्व देखें कि इस विषय में वेद क्या कहते हैं।

लड़का और लड़की दोनों ही दायभाग के अधिकारी हैं। इसको एक ऋचा और एक श्लोक से स्पष्ट किया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

अर्थात् अंग-अंग से उत्पन्न होता व हृदय से प्रकट होता है। इसलिए हे पुत्र, तू आत्मा है। सौ वर्ष तक जी। यहाँ 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों को लिया है क्योंकि दोनों ही अंग-अंग से उत्पन्न होते हैं। लड़की की उत्पत्ति और लड़के की उत्पत्ति में कुछ भेद नहीं है।

परन्तु श्लोक से तो अत्यन्त सुस्पष्ट हो जाता है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(निरुक्त 3/4)*

अर्थात् बिना किसी विशेषता के लड़का और लड़की दोनों (पुत्राणां मिथुनानां) दायभाग के अधिकारी हैं। ऐसा सृष्टि के आरम्भ में स्वायम्भुव मनु ने कहा था।

इससे पता चलता है कि यास्क के समय 'मनुस्मृति' या मनु के किसी उपदेश के आधार पर 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों ही अभिप्रेत थे और दोनों दायभाग के अधिकारी थे। संस्कृत में लिंग का सम्बन्ध शब्दों से है, अर्थ से नहीं। सम्भव है पीछे से इस प्रसंग में भी 'पुत्र' शब्द केवल लड़के के लिए प्रयुक्त हो गया और लड़कियाँ दायभाग से वञ्चित कर दी गईं।

कुछ लोगों का विचार है कि जायदाद के झगड़े को ही मिटा दो। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। जायदाद नष्ट होते ही दायभाग के झगड़े ही समाप्त हो जायेंगे। जितनी जायदाद होगी, वह जातिभर की। जाति जिसको जितनी आवश्यकता होगी उतना दे देगी। यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। परन्तु संस्कृत की कहावत है कि **'दूराद् हि पर्वता रम्याः'**—पहाड़ दूर से ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। जो बात व्यवहार में नहीं आ सकती, उसकी मीमांसा से क्या लाभ? जो लोग भूल-भुलैया को पसन्द करते हैं वे करते रहें। हम तो किसी को मूर्खों के स्वर्ग (fool's paradise) की इच्छा करने का परामर्श नहीं दे सकते। जायदाद वह चीज है जिसके स्थापित करने के लिए मनुष्य अपनी बुद्धि, शक्ति तथा अपने शुभ गुणों का विकास करता है यदि यह कामना न रहे तो लाखों पीछे एक-दो संन्यास-वृत्तिवालों को छोड़कर शेष उदासीन, आलसी, प्रमादी तथा विषयी हो जायेंगे और जायदाद के होने से जो बुराइयाँ उत्पन्न हो रही हैं उनसे सहस्र-गुनी उठ खड़ी होंगी। यह ठीक है कि कभी-कभी आँख फूटने से पीड़ा दूर हो जाती है, परन्तु आँख को फोड़ डालना पीड़ा का इलाज नहीं है। मनु ने जायदाद को स्थापित रखने के लिए उपाय बताये हैं—

(1) जायदाद केवल लड़कों को ही मिले।

(2) लड़कियों को स्त्री-धन मिले।

इससे साधारणतया जाति की हानि नहीं, क्योंकि जो लड़की अपने पति के घर जाती है वह उस जायदाद की स्वामिनी बन जाती है जो उसके पति की है। इसी प्रकार उसके पिता की जायदाद जो उसके भाई को मिली, उस पर उसकी भौजाई का स्वत्व हो गया। इससे न तो जायदाद के टुकड़े हुए, न एक वंश में ही विवाह करने पड़े, न स्त्रियाँ ही अपने स्वत्व से वञ्चित रहीं। जहाँ बड़ी-बड़ी जायदाद हैं, जैसे राज्य आदि, वहाँ के लिए और नियम बनाये, अर्थात् राज्य का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र हो। अन्य पुत्रों को गुजारा मिले। तात्पर्य यह है कि छोटी-छोटी जायदाद तो परिवारों की अपनी हैं, परन्तु बड़ी रियासतें राजा की निज-सम्पत्ति नहीं। वह तो प्रजा के हित के लिए प्रबन्धक मात्र है। अतएव परिवार के लोगों को उसके बाँटने का अधिकार नहीं। अन्यथा राज्य के टुकड़े होने से अनेक नैतिक दोष उत्पन्न हो जायेंगे, और जातीय एकता नष्ट हो जायेगी।

पुत्र न होने की अवस्था में 'पुत्रिका' का नियम बनाया गया है। यास्क कहते हैं—

अभ्रातृमती वाद इत्यपरम्।

अर्थात् 'जिस लड़की के भाई न हो उसके लिए अलग नियम है। 'मनुस्मृति में लिखा है—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम्॥ *(9/127)*

अर्थात् 'जिसके पुत्र न हो और जायदाद हो, वह अपनी लड़की को पुत्रिका बना ले। पुत्रिका उस लड़की को कहते हैं जो विवाह के पश्चात् पति के घर नहीं जाती किन्तु पति ही उसके यहाँ आकर रहता है और उसकी सन्तान अपने नाना की जायदाद की दायभागी होती है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ *(9/130)*

अर्थात् 'जैसे स्वयं वैसा पुत्र। पुत्र के बराबर पुत्री। उसके रहते हुए अन्य कौन धन ले सकता है?'

बहुधा कहा जाता है कि स्मृतियों के अनुसार स्त्री का कोई अधिकार

ही नहीं रखा। ऐसी बात नहीं है। 'मनुस्मृति' का दायभाग के सम्बन्ध में सबसे पहला श्लोक है—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ *(9/104)*

अर्थात् 'पिता और माता दोनों के मरने पर भाई पैतृक जायदाद को बराबर-बराबर बाँट लें। उनके जीवन में वे पुत्र कुछ अधिकार नहीं रखते।' यहाँ 'मातुश्च' शब्द से प्रकट होता है कि माता के जीवन-काल में माता ही अधिकारी है, पुत्र नहीं। 'अनीशास्ते हि जीवतोः' में 'जीवतोः' द्विवचन में आया है अर्थात् जब तक माता जीवित है तब तक लड़कों को अधिकार नहीं है। यदि माता को वञ्चित रखना होता तो द्विवचन का प्रयोग व्यर्थ था। और देखिए—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ *(9/217)*

अर्थात् 'यदि कोई पुत्ररहित मर जाये तो उसकी जायदाद माता ले। माता न हो तो दादी लेवे।' आगे देखिए—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥ *(9/192)*

अर्थात् 'माता के मरने पर सब भाई और सहोदरा बहनें माता की जायदाद का बाँट कर लें।'

इतना ही नहीं, धेवतियों का भी भाग है—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातमह्या धनात् किञ्चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ *(9/193)*

अर्थात् 'उन लड़कियों की यदि लड़कियाँ हों तो उनको भी नानी के धन में से कुछ प्रीतिपूर्वक देना चाहिए।'

स्त्री-धन के विषय में लोगों का विचार है कि यह एक अकिञ्चित् वस्तु थी। परन्तु 'मनुस्मृति' के देखने से पता चलता है कि मनु ने स्त्री-धन को विशेषता दी है। यह धन पिता या भाइयों की इच्छा पर निर्भर नहीं रखा—

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ *(9/118)*

अर्थात् 'भाई लोग अपने-अपने अंश का चौथाई भाग बहनों को दें। न देना चाहें तो पतित समझे जावें।'

इससे प्रतीत होता है कि राजनियम से भी कड़ा समाजनियम किया गया था जिससे स्त्रियाँ भाग-शून्य न रहने पावें। पीछे से लोगों ने खींचातानी करके कुछ का कुछ अर्थ निकाल लिया। उदाहरण के लिए कुछ लोग कहते हैं कि इससे केवल विवाह-मात्र का व्यय अभिप्रेत है। परन्तु यह भी पीछे की कल्पना है, जब भाइयों ने बहनों को धन देने से इनकार किया होगा। मनु का मन्तव्य तो सुस्पष्ट है।

इस प्रकार हमारी यह धारणा सर्वांश में सत्य है कि वेद और 'मनुस्मृति' आदि वैदिक शास्त्रों में स्त्रियों की वही स्थिति है जो उनकी मनुष्य-समाज मे होनी चाहिए अर्थात् जो उनके और मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी है। उनका पतन पीछे से (पौराणिक काल में) हुआ है। आवश्यकता है कि इसका निराकरण होकर स्त्रियों का हमारे समाज में पूर्ववत् समादर हो और स्त्रियाँ भी पश्चिमी सभ्यता के विषैले प्रवाह-प्रभाव से बचें, तथा स्वात्म-गौरव को प्रतिष्ठित करें।

प्रक्षेप किस प्रकार किये जाते हैं? एक उदाहरण—हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है। इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था। वस्तुतः उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आ गयी। हिन्दू एक प्राचीन जाति है। समय-समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुए। भिन्न-भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पण्डितों से सहायता ली। उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया। यह केवल कल्पना नहीं है, किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं। 'दत्तक मीमांसा' को नन्द पण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था। यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रंथ है और ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में भूल से इसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और अंग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया। इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी सभा (Full bench) ने सर जॉन एज (Sir John Edge) के सभापतित्व में एक फैसला दिया था। उसमें इस बात

को विस्तारपूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपक को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायभाग से वञ्चित करने के लिए लिखी गयी है।

'दत्तक-चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक है जिसके विषय में सभी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है। रघुमणि कोलब्रुक (Colebrooke) साहब के साथी पण्डित थे, बंगाल के एक राजा थे। उन्होंने एक लड़का गोद रखा था। पीछे से उनके अपना लड़का हो गया। उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राज का अधिकार किसको मिले? गोद के रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने के लिए रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी। इसके हिसाब से गोद के लड़के को आधा राज मिलना चाहिए। यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक-तिहाई मिलता। यह मुकदमा आगे नहीं चला, क्योंकि सन्धि हो गयी। इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्त पद्धतेर्दर्शिका ल-घु-
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णिः ॥

इसके पहले और पिछले अक्षरों से 'रघुमणि' शब्द बनता है।

1832 ई० में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा। जैनियों की एक पुस्तक लिखकर कॉलेज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करा दी। डॉक्टर एच० एच० विल्सन (Dr.H.H. Wilson) कॉलेज के मन्त्री थे। उनको सन्देह हो गया। पुस्तक पकड़ी गयी। पण्डित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार किया। उस दिन से वहाँ पण्डितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया। (देखो सरकार, शास्त्री का हिन्दू लॉ, पृ० 187)

जब यह क्षेपकों का जाल इस समय तक जारी है तो न जाने मध्यकाल में कितने अवसर जाल बनाने के लिए उपस्थित न हो चुके होंगे और मानव-धर्मशास्त्र को कितनी बार वैदिक धर्म और संस्कृति के शत्रु स्वार्थी जनों तथा पद, प्रतिष्ठा और पैसे के लोभी पामर लोगों द्वारा बिगाड़ा न गया होगा!

5

मनुस्मृति : रचनाकाल और प्रक्षेप

स्व. आचार्य रामदेव
(इतिहासकार)

मनुस्मृति का निर्माण-काल—'श्लोकबद्ध मनुस्मृति जिसमें आजकल प्राय: 2684 श्लोक[1] मिलते हैं, हमें किन-किन ऐतिहासिक बातों की शिक्षा देती है' इस विषय पर विचार करने के पूर्व आवश्यक है कि हम यह निर्णय कर लें कि यह मनुस्मृति कब बनी।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति कब बनी—योरोपीय इतिहासज्ञ ऑनरेबल एलफ़िंस्टन साहब अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, (पञ्चमावृत्ति) के पृष्ठ 11-12 में लिखते हैं—

"The first complete picture of the state of society is afforded by the code of laws which bears the name of Manu and which was probably drawn up in the 9th century before Christ."

अर्थात्—'सामाजिक दशा का प्रथम पूर्णचित्र उस धर्मशास्त्र से ज्ञात होता है जिस पर मनु का नाम है और जो कदाचित् ईसा के जन्म से पूर्व नवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था (अर्थात् अब से प्राय: अट्ठाइस सौ वर्ष पूर्व)।'

इसी विषय में इतिहासज्ञ डॉक्टर हंटर साहब अपने ग्रन्थ 'दि इण्डियन एम्पायर' (द्वितीयावृत्ति) के फर्स्ट वॉल्यूम (प्रथम खण्ड) के पृष्ठ 113 में लिखते हैं—

1. देखिए सन् 1887 ई. की मुम्बई 'निर्णयसागर' प्रेस की छपी हुई मनुस्मृति जिस पर कुल्लूक भट्ट की टीका है।

"It is a compilation of the customary law current probably about the 5th century BC····the present code must have been compiled between 100 and 500 A.D."

अर्थात्—''व्यावहारिक नियमों का यह (मनुस्मृति) एक संग्रह है जो (नियम) कि ईसा के जन्म से पूर्व प्रायः पाँचवीं शताब्दी में प्रचलित थे····परन्तु वर्तमान (श्लोकबद्ध) धर्मशास्त्र तो 100 (एक सौ) से 500 (पाँच सौ) ईसवी के बीच ही संग्रहीत हुआ होगा।''

इसी विषय में सर डब्ल्यू० जोंस साहब, 'हफ़्टंस इंस्टीट्यूट ऑफ़ हिन्दू लॉ' की भूमिका पृष्ठ 10 में लिखते हैं—

"The laws of Manu very probably were considerably older than those of Solon or evern of Lycurgus, although the promulgation or them, before they were reduced to writing, might have been coeval with the first monarchies established in Egypt and India."

अर्थात्—''मनु के राजनियम, अधिक सम्भव है कि सोलन तथा लाइकरगस[1] के राजनियमों से भी बहुत पुराने हों, यद्यपि लेखबद्ध होने के पूर्व मनु के राजनियम (उक्त काल से भी अधिक प्राचीन समय से अर्थात्) उस समय में भी प्रचारित हों जब कि मिश्र[2] तथा भारत में प्रथम-प्रथम राज्य स्थापित हुए थे।''

इसी विषय में प्रोफेसर जी० बुहलर साहब अपनी पुस्तक 'लॉज़ ऑफ़ मनु' की भूमिका पृष्ठ 114 तथा 117 में लिखते हैं—

"As the Yavanas are named together with the Kambojas of Kabulis exactly in the same manner as in

1. सोलन और लाइकरगस यूनान के दो राज-व्यवस्थापक थे जिनमें से सोलन ईसा के जन्म से प्राय: 600 वर्ष पूर्व विद्यमान था और लाइकरगस ईसा के जन्म से प्राय: 900 वर्ष पूर्व था।
2. 'थियाजोनी ऑफ़ दि हिन्दूज़' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ 45 में लिखा है कि—"The oldest king found on the Egyptian tables of Matho (viz. the head of the Tinite Thebaine dynasty) who reigned 5867 years B.C. and 2000 year

the edicts of Asoka, it is highly probable that Greek subjects of Alexander's successors, and especially the Bactrain Greeks are meant····I think it so far to rely more on the mention of the Yavanas, Kambojas, and Sakas and to fix the remoter limit of the work about the beginning of the 2nd century A.D. or somewhat earlier. This estimate of the age of the Bhrigu Samhita, according to which it certainly existed in the 2nd century A.D. and seems to have been composed between that date and the 2nd century. B.C., agrees very colsely wih the views of Professor Cowell and Mr. Talboys Wheeler."

अर्थात् ''क्योंकि यवनों का नाम काम्बोज वा काबुलियों[1] के साथ ठीक उसी प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आये हैं, अत: अधिक सम्भव है कि इससे (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की····ग्रीक-प्रजा और विशेषकर बैक्ट्रियन ग्रीक लक्षित हों····मैं समझता हूँ कि यह अधिकतर (रक्षित) ठीक होगा कि यवन, काम्बोज और शक (शब्दों) के वर्णन पर अधिकतर निर्भर किया जाये और इस ग्रन्थ का पिछला समय प्राय: द्वितीय ईसवी शताब्दी का आरम्भ अथवा कुछ पूर्व निश्चित किया जाये। भृगुसंहिता (श्लोकबद्ध मनुस्मृति) के समय

---

before Saufi the founder of the Gizeh Pyramid" अर्थात् मेथो की मिश्रियों की सूची से ज्ञात होता है कि उनका सबसे प्राचीन राजा अर्थात् तिनित थीबेन वंश का आदिपुरुष ईसा के जन्म से 5867 वर्ष पूर्व राज करता था अर्थात् 'गिज़ेह' की समाधि के संस्थापक 'सौफ़ी' के समय से 2000 वर्ष पूर्व।

1. नोट—प्रोफेसर बुहलर साहब का यह कथन कि काम्बोज काबुलियों को कहते थे किसी प्रमाण से पोषित दीख नहीं पड़ता। मिस्टर जे० एफ० व्हाइट साहब के 'उत्तरीय भारत के प्राचीन इतिहास' विषयक लेख जो रॉयल एशियाटिक सोसायटी के 1888 तथा 1889 के जर्नल में छपे हैं और जिन्हें बड़ी प्रशंसा के साथ इतिहासज्ञ मिस्टर रागोज़िन ने अपनी पुस्तक 'वैदिक इण्डिया' पृष्ठ 288 में उद्धृत किया है, उनसे तो पता लगता है कि 'काम्बोज' ब्रह्मपुत्र तथा इरावती नदियों के किनारे असम देश के निकट

की यह (आनुमानिक) गणना (जिसके अनुसार) द्वितीय ईसवी शताब्दी में यह अवश्य ही विद्यमान थी और जिसके अनुसार यह उक्त समय तथा ईसा के जन्म से पूर्व द्वितीय शताब्दी के बीच निर्मित हुई ज्ञात होती है, प्रोफेसर काउएल तथा मिस्टर टालबॉयज़ व्हीलर के मन्तव्यों के साथ बहुत अधिक मिलती है।''

श्लोकबद्ध मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में हमने जो उक्त चार योरोपीय इतिहासज्ञों की सम्मति उद्धृत की है, उससे ज्ञात होगा कि ये एक-दूसरे का खण्डन कर रहे हैं। डॉक्टर हंटर इसे 100 से 500 ईसवी के बीच बनी हुई बतलाते हैं, जबकि सर डब्ल्यू० जोंस साहब इसे ईसा के जन्म से कम से कम 900 वर्ष पूर्व का बना हुआ मानते हैं। इसके नियमों का प्रचार ईसा के जन्म से प्राय: 5867 वर्ष पूर्व भी मानते हैं।

ऑनरेबल एलफ़िंस्टन साहब ने मनुस्मृति के निर्माणकाल का जो अनुमान प्रस्तुत किया है, उसके लिए उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। ज्ञात होता है कि उन्होंने वेदो का संग्रहकाल जो ईसा के जन्म से प्राय: 1400 वर्ष पूर्व माना है, इसी कारण उन्हें मनुस्मृति का काल उक्त 1400 वर्ष के पीछे मानना पड़ा है। क्योंकि उक्त कालों का अनुमान उक्त इतिहासज्ञ ने किसी पुष्ट प्रमाण पर निर्भर नहीं दिखलाया, इस कारण उनकी सम्मति उनकी निज सम्मतिमात्र समझी जायेगी। वह अन्यों के लिए भी ऐतिहासिक घटना की तरह माननीय नहीं हो सकती।

डॉक्टर हंटर साहब ने मनुस्मृति के निर्माण का काल जो 100 (एक सौ) तथा 500 (पाँच सौ) ईसवी के बीच बतलाया है, उन्होंने भी अपने कथनों की पुष्टि में सिवा इसके और कुछ नहीं लिखा कि इस विषय में अमुक योरोपीय

रहते थे, यथा—"Their (Kolarian's) languages are allied to those used on the Brahmaputra and the Irawaty by a Kambojans and the Assamese अर्थात कोलेरियों की भाषा उस भाषा से मिलती है जिसे ब्रह्मपुत्र तथा इरावती के किनारे बसनेवाले काम्बोज और असमी बोलते हैं (ध्यान रहे कि यूरोपीय इतिहासज्ञ कोलेरियों को भारत में आर्यों से भी पूर्व आया हुआ मानते हैं, परन्तु हैं और जहाँ तक हमें ज्ञात है कि उनके इस कथन की पुष्टि आर्यावर्त के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं होती)।

विद्वान् की यह सम्मति है और अमुक विद्वान् की यह, और जिन-जिन विद्वानों की सम्मति आपने लिखी है, वे भी मनुस्मृति को भिन्न-भिन्न समयों में बना हुआ बतलाते हैं, अतः डॉक्टर हंटर साहब का भी मनुस्मृति के निर्माणकाल-विषयक लेख मान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

हाँ, सर डब्ल्यू० जोंस साहब मनुस्मृति का प्राचीनता के कुछ पोषक ज्ञात होते हैं और वह अनुमान करते हैं कि कोई भी राज्यशासन राजनियमों के बिना नहीं चल सकता और मनुस्मृति से पुराना आर्यों का कोई राजनियम दिखलाई नहीं देता, और क्योंकि आर्यों ने अति प्राचीनकाल में राज्यस्थापन किया था, अतः सम्भव है कि मनु के नियम ईसा के जन्म से प्रायः 5867 वर्ष पूर्व प्रचरित हों, अस्तु। यद्यपि सर डब्ल्यू० जोंस की बातें आर्यकणों को अन्यों के कथनों की अपेक्षा मधुर ज्ञात होंगी, तथापि प्रमाणों के सन्मुख प्रस्तुत नहीं रहने से इतिहास का प्रेमी ऐसे कथनों पर भी श्रद्धा नहीं कर सकता (सम्भव है कि सर डब्ल्यू० जोंस ने किसी अन्य पुस्तक में इस विषय में कुछ विशेष लिखा हो, परन्तु हमें कोई वैसी पुस्तक नहीं मिली इस कारण अपनी यह सम्मति लिखनी पड़ी)।

अब शेष रह गयी प्रोफेसर जी० बुहलर साहब की सम्मति की समालोचना। योरोपीय इतिहासज्ञ इन्हें अच्छा संस्कृतज्ञ समझते हैं और इन्होंने मनुस्मृति पर अंग्रेजी टीका भी लिखी है और मनुस्मृति के निर्माणकाल-विषय में कतिपय प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं, अतः इनके कथनों पर विशेष सावधानता से विचार करना चाहिए। प्रोफेसर जी० बुहलर साहब जो मनुस्मृति का निर्माणकाल 'ईसा के जन्म से दो शताब्दी पूर्व' और 'ईसा के पश्चात् सन् ईसवी दूसरी शताब्दी' के बीच (200 बी०सी० से 200 ए०डी० के बीच) अनुमान करते हैं और उसमें वे जो हेतु देते हैं, उसका सारांश यह है कि मनुस्मृति अध्याय दश के श्लोक 44 "**पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः**" में जो '**काम्बोजा यवनाः शकाः**' पाठ आया है वह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतवासियों का सम्बन्ध अलक्षेन्द्र (अलकज़ण्डर वा सिकन्दर) के उत्तराधिकारियों की यूनानी (यवन) प्रजा और विशेषकर बैक्ट्रिया राज्य की यूनानी प्रजा के साथ हुआ, तब यह मनुस्मृति बनी।

अलक्षेन्द्र के सेनापति सैल्यूकस का राज्य बैक्ट्रिया में भी था जहाँ कुछ यूनानी बसते थे। सैल्यूकस ने जब से महाराज चन्द्रगुप्त से सन्धि की, तब से बैक्ट्रिया पर चन्द्रगुप्त, पुनः उनके पुत्र बिन्दुसार, और पुनः बिन्दुसार के पुत्र अशोक का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया और बैक्ट्रिया के यूनानियों (यवनों) का बारम्बार गमनागमन भारत में होने लगा और क्योंकि महाराज अशोक का राज्य ईसा के जन्म से प्रायः 260 वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था, इसी कारण ज्ञात होता है कि प्रोफेसर जी० बुहलर साहब यवनों के साथ भारतवासियों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व से मानते हैं और इसी आधार पर 'यवन' शब्द को मनुस्मृति में देखकर अनुमान करते हैं कि इस सम्बन्ध के बाद मनुस्मृति बनी होगी जिसका 'ईसा के जन्म से दो सौ वर्ष पूर्व' से लेकर 'ईसा के बाद सन् ईसवी दो सौ' तक के बीच होगा।

मनुस्मृति में आये हुए 'यवन' शब्द का अर्थ विशेषकर बैक्ट्रिया की यूनानी प्रजा है। इसकी पुष्टि में महाराज अशोक के पञ्चम शिलालेख को प्रोफेसर बुहलर साहब प्रस्तुत करते और लिखते हैं कि क्योंकि मनुस्मृति में यवनों का नाम कम्बोज वा काबुलियों के साथ-साथ ठीक उसी प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आये हैं, अतः अधिक सम्भव है कि इससे (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की ग्रीक (यूनानी) प्रजा और विशेषकर बैक्ट्रिया ग्रीक लक्षित हों।[1]

---

1. नोट—यवन, काम्बोज और शक शब्द विदेशी भाषा के नहीं, प्रत्युत शब्द संस्कृत के हैं। देखिए वाचस्पत्य कोष पृष्ठ 4775। वहाँ 'यवन' शब्द की व्युत्पत्ति 'यु' धातु से बतलाई है और यह भी लिखा है कि यह शब्द 'वेग' और 'गोधूम' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हाँ, इसका अर्थ देश-विशेष, वा वहाँ के निवासी, वा वहाँ का राजा भी लिखा है। अतः मनु के अध्याय दश, श्लोक 43 तथा 44 का अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि यवनादि कई जातियों की उत्पत्ति क्षत्रियों से ही हुई थी, परन्तु ज्ञानी ब्राह्मणों का सत्संग छूटने से ये वृषलत्व वा भ्रष्टता को प्राप्त हो गये।
   'काम्बोज' शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है। वाचस्पत्य कोष पृष्ठ 1906 में काम्बोज का अर्थ लिखा है "कम्बोजोऽभिजनो यस्य" अर्थात् कम्बोज है देश जिनका वे काम्बोज कहलाते हैं और 'सोमवल्के', 'पुण्यागवृक्षे', 'श्वेतखदिरे', 'गुञ्जायां' इन अर्थों में भी काम्बोज शब्द का प्रयुक्त होना लिखा है।

प्रोफेसर बुहलर साहब का केवल इतना कथन ठीक है कि यवन शब्द ग्रीक वा यूनानी प्रजा का बोधक है (परन्तु स्मरण रहे कि यवन शब्द का अपभ्रंश यूनानी शब्द है, अर्थात् यवन शब्द से यूनानी शब्द की उत्पत्ति हुई है, न कि यूनानी शब्द से यवन शब्द की। अर्थात् जो लोग पहले यवन कहलाते थे, इन्हीं में से कुछ लोग पीछे से जिस देश में जा बसे होंगे उसका नाम यवनीय Ionia पड़ा होगा और पुनः वही जाति यवनानी वा यूनानी कहलाने लगी होगी और देश का नाम यूनान पड़ गया होगा)। परन्तु उनका यह अनुमान ठीक नहीं कि भारतवासी और यवनों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ व तीन सौ वर्ष पूर्व से ही आरम्भ हुआ।

ग्रन्थ 'महाभारत' में जहाँ सम्राट् युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का वर्णन है तथा जहाँ कौरव-पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है, उन प्रकरणों को देखिए तो ज्ञात होगा कि कितने विदेशी महाराज उक्त समयों पर भारत में आये थे। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि विडालाक्ष नामक यवन राजा पधारे थे। क्या वह घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं कि सम्राट् युधिष्ठिर निमन्त्रण वा सन्देशा भेजें और यवनराज उनके यज्ञ वा युद्ध में सम्मिलित हों?

इन प्रकरणों के अतिरिक्त 'यवन' जाति का नाम महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय 33, श्लोक 21 में भी आया है और साथ ही 'काम्बोज' और 'शक' जातियों के भी नाम आये हैं, यथा—

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥

पुनः महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 65, श्लोक 13 में भी 'यवन' जाति का नाम आया है और साथ ही 'शक' जाति का नाम भी। पुनः श्लोक 14 में काम्बोज जाति का नाम भी आया है, यथा—

यवनाः किराता गान्धाराश्वीनाः शवरबर्बराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्व पह्लवाश्वान्ध्रमद्रकाः॥

'शक' शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है। वाचस्पत्य कोष पृष्ठ 5072 में इस शब्द का अर्थ लिखा है ''जातिभेदे स च व्रात्यक्षत्रियः' एक प्रकार की जाति के लोग जो कि व्रात्यक्षत्रिय थे।

पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः॥

पुनः महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय 35 श्लोक 18 में भी यवन शब्द का पाठ है, यथा—

किराता यवनाश्चैव तास्ता क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात्॥

महाभारत के उक्त श्लोकों में यवन, काम्बोज और शक जातियों के नाम देखकर भी यदि कोई कहे कि मनुस्मृति की तरह महाभारत भी ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व बना, तो उसके कथनों को कोई भी इतिहास का प्रेमी कैसे स्वीकार कर सकता है?

योरोपीय इतिहासज्ञ ऑनरेबल एलफ़िंस्टन साहब महाभारत के युद्ध के विषय में अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' पञ्चमावृत्ति के पृष्ठ 227 में लिखते हैं—

"The date of the war has already been discussed. It was probably in the fourteenth century before Christ."

अर्थात्—"उस (महाभारत) युद्ध की तिथि पर विचार हो चुका। सम्भव है कि यह ईसा के जन्म से पूर्व चौदहवीं शताब्दी में हुआ हो।"

एवं अन्यान्य योरोपीय इतिहासज्ञ भी महाभारत-युद्ध को ईसा के जन्म से 200 वर्ष पूर्व से भी विशेष पूर्व का मानते हैं। अतः सम्राट् युधिष्ठिर के समकालीन यवनराजा विडालाक्ष का सम्बन्ध एवं यवनों का घनिष्ठ सम्बन्ध भारत से उन योरोपीय इतिहासज्ञों को भी ईसा के जन्म से 200 वर्ष पूर्व से भी बहुत पूर्व का मानना चाहिए था।

इटली के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ गोरेसियो (Gorresio) रामायण के अपने अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं—

The name of Yavanas may have been anciently used by the Indians to denote the nations situated to the west of India; more recently, that is after the time of Alexander, it was applied principally to the Greeks.

''ऐसा हो सकता है कि भारतवासियों ने 'यवन' नाम का प्रयोग प्राचीन समय में उन सब मनुष्यजातियों के लिए किया हो जो भारत से पश्चिम की ओर बसते हैं और पिछले दिनों अर्थात् अलक्षेन्द्र के समय के पीछे इस शब्द का विशेष प्रयोग यूनानियों के लिए करते हों।''

काम्बोज और शक जातियों का भी सम्बन्ध भारत से अति प्राचीन काल से चला आता है।

मनुस्मृति के श्लोक महाभारत में—श्लोकबद्ध मनुस्मृति को जो लोग बहुत प्राचीन मानते हैं, उनकी ओर से निम्नलिखित तर्क किया जा सकता है—

मनुस्मृति में कहीं भी महाभारत वा महर्षि व्यास का नाम नहीं आया है और महाभारत में राजर्षि मनु का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ बारम्बार आया है, यथा—

1. **मनुनाऽभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन!**
   (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय 47, श्लोक 35)
2. **तैरेवमुक्तोभगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।**
   (महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 36, श्लोक 5)
3. **एष दायविधिः पार्थ! पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा।**
   (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय 47, श्लोक 58)
4. **सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्म्मात्मा मनुरब्रवीत्।**
   (महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म) इत्यादि-इत्यादि।

अतः सिद्ध होता है कि महाभारत के पूर्व मनुस्मृति विद्यमान थी यतः महाभारतरचयिता ने स्वयं राजर्षि मनु के कथनों को प्रमाणरूप से महाभारत में लिखा है।

परन्तु प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि महाभारत के उक्त श्लोकों से यह तो निस्सन्देह सिद्ध होता है कि राजर्षि मनु महाभारत से पहले विद्यमान थे, परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति भी महाभारत के पूर्व विद्यमान थी; सम्भव है कि आपस्तम्बादि सूत्रग्रन्थों में जिस मानवधर्मसूत्र का नाम आया है उस धर्मसूत्र के रचयिता मनु का नाम महाभारत में आया हो।

इसका उत्तर है मनुस्मृति अध्याय 9 का निम्नलिखित 321वाँ श्लोक—

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 56 में ज्यों का त्यों आता है जहाँ कि इस श्लोक की संख्या 24 है और इस चौबीसवें श्लोक के पूर्व जो तेईसवाँ श्लोक है उसमें लिखा है "**मनुना चैव राजेंद्र! गीतौ श्लोकौ महात्मना**" अर्थात् "हे राजेंद्र! मनु नाम महात्मा ने इन श्लोकों को कहा है।" जब कि मनुस्मृति के श्लोक को महाभारत में उद्धृत करता हुआ पुरुष लिखता है कि यह श्लोक मनु का है। तब क्यों न माना जाये कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पहले विद्यमान थी?

मनुस्मृति अध्याय 9 के उक्त 321वें श्लोक के अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक भी ज्यों के त्यों महाभारत में आते हैं—

1. **यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।**
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ *(मनु० 11/7)*

द्रष्टव्य—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 165 में आता है जहाँ इसकी संख्या 5 है (पाँचवाँ श्लोक) है।

2. **योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्त्रगुः।**
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्॥ *(मनु० 11/12)*

द्रष्टव्य—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 165 में आता है जहाँ इस श्लोक की संख्या 9 है।

3. **संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।**
याजनाऽध्यापनद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥ *(मनु० 11/180)*

द्रष्टव्य—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 165 में आता है जहाँ इस श्लोक की संख्या 37 है।

4. **नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।**
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ *(मनु० 6/45)*

द्रष्टव्य—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 245 में आया है जहाँ यह 15वाँ श्लोक है।

5. ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ *(मनु० 2 । 120)*

द्रष्टव्य—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय 104 में आया है जहाँ यह 64वाँ श्लोक है। मुम्बईवाले महाशय गणपतिकृष्णा जी के छपाये महाभारत में तो 'प्रत्युत्थान' ही पाठ है, परन्तु कलकत्ता के महाशय प्रतापचन्द्र राय जी के छपाये महाभारत में 'अभ्युत्थान' पाठ है।

मनुस्मृति के उक्त श्लोक जो ज्यों के त्यों महाभारत में आये हैं, इनके अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक किञ्चित् परिवर्तनों के साथ महाभारत में आये हैं—

1. यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

(मनु० 2/ 157)

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 36/ 47)

द्रष्टव्य—जो अर्थ मनुस्मृति के श्लोक 57 का है, वही अर्थ महाभारत में आये हुए श्लोक 47 का है।

2. सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम्॥

(मनु० 11/ 4)

सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 165/ 4)

3. यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥

(मनु० 11/ 12)

योो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद्वितं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 165/ 7)

4. **नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।**
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः॥

(मनु॰ 11/ 37)

नरके निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 165/ 22)

5. **पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे।**
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥

(मनु॰ 8/ 372)

पुमांसमुन्नयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे।
अभ्याददीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 165/ 63)

6. **पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातग्निर्दक्षिणः स्मृतः।**
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु॰ 2/ 231)

पिता वै गार्हपत्योऽग्निहर्मातग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयोऽग्निः साऽग्नित्रेता गरीयसी॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 108/ 7)

7. **पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।**
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

(मनु॰ 9/ 3)

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व, 46/ 14)

8. पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥

(मनु० 3/ 55)

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथदेवरैः।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व, 46/ 3)

अनुमान है कि महाभारत के भिन्न-भिन्न स्थलों में कम-से-कम पचास श्लोक ऐसे होंगे जो मनुस्मृति से ज्यों-के-त्यों वा किञ्चित् परिवर्तनों के साथ उद्धृत किये गये हों।[1]

इतने प्रमाणों के प्रस्तुत रहते हुए कौन कह सकता है कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पूर्व विद्यमान न थी?

मनुस्मृति के श्लोक वाल्मीकिरामायण में—केवल महाभारत ही क्यों, वाल्मीकिरामायण के किष्किन्धाकाण्ड सर्ग 18 को देखिए, वहाँ भी मनु के श्लोकों का वर्णन आता है। जहाँ श्री रामचन्द्रजी अत्याचारी बाली को घायल कर उसके आक्षेपों के उत्तर में अन्यान्य कथनों के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि तूने अपने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री को बलात् हरण कर और उसे अपनी स्त्री बना अनुजभार्याभिमर्श का दोषी बन चुका, जिसके लिए (धर्मशास्त्र में) वध दण्ड की आज्ञा है। इस पृथिवी के स्वामी महाराज भरत हैं (अतः तू भी उनकी प्रजा है); मैं उनकी आज्ञापालन करता हुआ विचरता हूँ फिर मैं तुझे यथोचित दण्ड कैसे न देता? जैसा कि—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।
गृहीतौ धर्म्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया॥ 30॥
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ 31॥

1. मनुस्मृति में पाठभेद होता आया है। मनुस्मृति की टीका करनेवाले मेधातिथि के समय में 500 के लगभग पाठभेद मिलते थे। दूसरे टीकाकार कुल्लूकभट्ट के समय प्रायः 650 पाठभेद थे और तीसरे टीकाकार राघवानन्द के समय भी 300 के लगभग पाठभेद मिलते थे और चौथे टीकाकार नन्दन के समय भी 100 के लगभग पाठभेद थे। अतः सम्भव है कि महाभारत में मनु ने कोई-कोई श्लोक जो किञ्चित् परिवर्तनों के साथ आते हैं, परन्तु जिस परिवर्तन वा पाठभेद से अर्थ में कुछ भेद नहीं होता, वे श्लोक महाभारत में जिस समय आए हों उस समय मनुस्मृति में भी उसी प्रकार के हों।

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥ 32॥

(वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 18, श्लोक 30, 31, 32)

मनु के कहे हुए इन दो श्लोकों से ज्ञात होता है (सुना जाता है) जो श्लोक कि चरित्रप्रतिपादन में तत्पर हैं तथा जिन्हें धार्मिक पुरुषों ने धारण किया है और जिसके अनुसार ही वह कर्म (तुम्हें दण्ड देने का) मैंने किया है कि "पाप किये हुए मनुष्य जब राजा से उचित दण्ड पा लेते हैं, तब वे भी निर्मल होकर सुकृत सन्तों की तरह स्वर्ग वा सुखविशेष को प्राप्त होते हैं। दण्ड पाने से वा (राजा के द्वारा) छोड़ दिये जाने से चोर अपने पाप से छूट जाता है, परन्तु यदि राजा पाप के लिए चोर को दण्ड नहीं देता तो वह चोर के (पाप के फल) दुःख को प्राप्त होता है।" (तात्पर्य यह है कि यदि मैं तुझे दण्ड न देता तो न तू पापमुक्त होता और न मैं पापी को न दण्ड देने के अपराध से बचता।)

रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग 18 के उक्त श्लोक 30 में मनु का नाम आया है और श्लोक 31 तथा 32 मनु के बतलाये गये हैं। अब परीक्षा करनी चाहिए कि रामायण का उक्त लेख कहाँ तक ठीक है? श्लोक 31 तथा 32 मनुस्मृति में कहीं मिलते हैं अथवा नहीं? उक्त दोनों ही श्लोक किञ्चित् पाठभेद (परन्तु जिससे अर्थ में कुछ भी भेद नहीं आया) मनुस्मृति के अध्याय 8 में मिलते हैं जिनकी संख्या (कुल्लूकभट्ट की टीकावाली मनुस्मृति में) 318 तथा 319 है। यथा—

1. **राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।**
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, 18/31)

राजनिर्धूतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(मनुस्मृति, 8/318)

2. **शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।**
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥

(रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, 18/32)

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥

(मनुस्मृति 8 / 316)

अतः यह सिद्ध हुआ कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति वाल्मीकिरामायण के पूर्व विद्यमान थी। यदि कोई कहे कि यह क्यों न माना जाये कि वाल्मीकिरामायण से ही उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में आये हैं, तो इसका उत्तर यह है कि मनुस्मृति में कहीं भी श्रीरामचन्द्र की वा महर्षि वाल्मीकि वा रामायण की वार्त्ता नहीं आई है और रामायण में स्पष्टतः मनु के श्लोकों **(मनुना गीतौ श्लोकौ)** की प्रशंसा विद्यमान है। **अतः सिद्ध होता है कि मनुस्मृति रामायण के काल से भी पहले की है।**

उक्त प्रकार से हमने संक्षेपतः यह दिखला दिया कि योरोपीय विद्वान् मनुस्मृति को थोड़े दिनों की बनी हुई सिद्ध करने के लिए किस तरह तर्क करते हैं तथा मनुस्मृति के प्राचीन होने के पक्ष में कौन-कौन से प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मनुस्मृति में प्रक्षेप—अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि इस विषय में हमारी सम्मति क्या है। यदि कोई **वर्तमान** मनुस्मृति से आद्योपान्त पढ़ जाये तो उसे ज्ञात होगा कि इस मनुस्मृति में **परस्पर-विरुद्ध** श्लोक अनेक भरे पड़े हैं, यथा—

मांस-मदिरा विषयक—इस विषय में मनु का स्पष्ट और दृढ़ मत है कि ये महापाप हैं—

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ *(मनु० 5/48)*

अर्थात् ''प्राणियों की हिंसा के बिना मांस नहीं उत्पन्न होता और प्राणियों के वध से सुख नहीं मिलता, अतः मांस ग्रहण-योग्य नहीं है।''

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ *(मनु० 5/86)*

''मांस खाने, मदिरा पीने तथा मैथुन में दोष नहीं है, क्योंकि इनमें लोगों की प्रवृत्ति है, परन्तु यदि इन्हें छोड़ दें तो महापुण्य होता है।''

ऊपर के श्लोक में दिखलाया है कि मदिरापान में भी दोष नहीं है,

परन्तु मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक इसे महापाप बतलाता और मद्यप के लिए कठिन-कठोर प्रायश्चित्त नियत करता है—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥ *(मनु० 11/90)*

''जिस द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ने मोहवश मदिरा पी ली हो, उसे चाहिए कि आग के समान गर्म की हुई मदिरा को पीवे ताकि उससे उसका शरीर जले और वह मद्यपान के पाप से छूटे।''

प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा-विषयक—इस विषय में मनुस्मृति कहती है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम ब्रिभ्रति॥ *(मनु० 2/157)*

''जैसे कि काष्ठ का हाथी और चमड़े का मृग होता है, वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मण कुलोत्पन्न है। ये तीनों नाममात्र को धारण करते हैं।''

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ *(मनु० 2/168)*

''जो द्विजकुलोत्पन्न वेदों को बिना पढ़े अन्यकार्यों में श्रम करता है, वह जीता हुआ ही पुत्रादि सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।''

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥ *(मनु० 10/65)*

(अर्थात् जैसे 'अत्युत्तम गुण-कर्म-स्वभाव धारण करने से) शूद्रकुलोत्पन्न पुरुष भी ब्राह्मण हो जाता है, (वैसे ही निकृष्ट गुण-कर्म-स्वभाव धारण करने से) ब्राह्मण-कुलोत्पन्न भी शूद्रता को प्राप्त हो जाता है, (एवं ब्राह्मण वा शूद्र के गुण-कर्म-स्वभाव वाले होने से) क्षत्रिय और वैश्यकुलोत्पन्न, ब्राह्मण वा शूद्र हो जाते हैं।'' (जबकि एक शूद्रकुलोत्पन्न, ब्राह्मण तक बन जाता था तो दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न क्षत्रिय वा वैश्य भी बन जाता ही होगा, एवं यदि एक वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मण बन सकता था तो दूसरा वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मणपद से नीचे क्षात्रपद को प्राप्त कर सकता ही होगा, एवं कोई क्षात्रकुलोत्पन्न जबकि शूद्र तक बन जाता था तो अन्य

क्षात्रकुलोत्पन्न के लिए शूद्रपद से एक पद ऊपर वैश्य बनना कठिन न होगा।)

उक्त तीनों श्लोकों के विपरीत मनुस्मृति के निम्नलिखित दो श्लोक हैं—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत्॥ *(मनु० 9/317)*
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥ *(मनु० 9/319)*

"चाहे अविद्वान् हो वा विद्वान्, ब्राह्मण महती देवता है जिस प्रकार कि अग्नि प्रणीत हो वा अप्रणीत वह महती देवता है।"

"यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीच कर्मों में लगे रहते हैं, तो भी वे सब प्रकार से पूजनीय ही हैं, क्योंकि उनमें बड़ा भारी देवत्व है।"

एवं परस्परविरुद्ध श्लोक कई उद्धृत किये जा सकते हैं। प्रश्न हो सकता है कि जिस मनुस्मृति में उत्तमोत्तम ज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं, जिसमें तर्क और प्रमाणों की आवश्यकता बतलाई गयी है, उसके बनानेवाले क्या ऐसे मूर्ख थे कि उन्होंने अपनी पुस्तक के एक स्थल में जिस बात को कहा उसी को दूसरे स्थल में खण्डन कर दिया? ऐसा काम तो पागल का होता है, जिसका मस्तिष्क ठीक नहीं, अथवा उस पुरुष का जिसकी विद्या और स्मरणशक्ति बहुत ही अल्प होती है और जो अपनी उत्तरदायिता को कुछ भी नहीं समझता, अस्तु। अब विचारना यह चाहिए कि मनुस्मृति में जो परस्परविरुद्ध कई श्लोक मिलते हैं, उनमें से किस प्रकार के श्लोक असल ग्रन्थ के हैं और किस प्रकार के श्लोक अन्यों के प्रक्षेप किये हुए हैं।

असल श्लोकों की जाँच की कसौटी—मनुस्मृति 2/8 में लिखा हुआ है—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥

अर्थात्—"विद्वान् को चाहिए कि इस सबको (इस धर्मशास्त्र को) ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाण से जाँचे और अपने धर्म व कर्तव्य में संलग्न हो जाये।"

इस प्रमाण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह वेदानुकूल एवं ज्ञान से परिमार्जित लिखा गया है। उक्त श्लोक कहता है कि जिसकी इच्छा हो वह जाँच ले कि यह ग्रन्थ वेदानुकूल एवं ज्ञानमय है वा नहीं।

पुनः मनुस्मृति 12/105 में लिखा है—

प्रत्यक्षं चाऽनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥

अर्थात्—''जो कोई भी धर्म (वा धर्मशास्त्र) की यथार्थता जानना चाहे, उसे चाहिए कि प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा विविध प्रकार के आगम-शास्त्र (शब्दप्रमाण) इन तीनों को भली-भाँति जान ले।''

इस श्लोक से तात्पर्य यह निकलता है कि इस ग्रन्थ (धर्मशास्त्र) में प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्दप्रमाण के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा गया है।

आर्षं धर्म्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

अर्थात्—''जो कोई धर्मग्रन्थों तथा धर्मोपदेशों को वेदशास्त्र से अविरुद्ध तर्कों के द्वारा (अर्थात् कुतर्कों द्वारा नहीं) विचारता है, वही धर्म का जाननेवाला पुरुष होता है, अन्य नहीं।''

उक्त श्लोक मानो लोगों को स्पष्ट बतला रहा है कि इस धर्मशास्त्र को भी तर्क की कसौटी पर चढ़ाओ और देखो कि विचार के पश्चात् यह कैसा ठहरता है।

अतः सिद्ध यही होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह तर्क से जाँचकर, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाणों की तुलाओं पर तोलकर लिखा गया है और इसी कारण लोग बारम्बार समझते आये हैं कि मनुस्मृति वेदविरुद्ध नहीं है।

अतः इस मनुस्मृति में जितनी बातें तर्कविरुद्ध वा प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द-प्रमाणों के विरुद्ध हैं (अर्थात् वेदानुकूल नहीं है) वे सब की सब असल ग्रन्थ की नहीं प्रत्युत अन्यान्य अल्पज्ञों की हैं। बस, इसी कसौटी पर मनुस्मृति के श्लोकों को चढ़ाइए और जो ठीक ठहरें उन्हें आर्ष और जो बे-ठीक हों उन्हें अनार्ष समझिये।

परन्तु मनुस्मृति के सब श्लोकों की जाँच वह पुरुष कर सकता है जो मनुस्मृति पर भाष्य लिखे। यह काम हमारा नहीं, अतः हम अपने प्रकरण की ओर जाते हैं।

पुराकालीन ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण—यदि हम भी मनुस्मृति पर सम्मति प्रकाशित करनेवाले डॉक्टर बुहलर आदि कतिपय योरोपीय विद्वानों की भाँति तर्क करें तो हमें कहना पड़ेगा कि यह मनुस्मृति तब बनी जबकि ब्राह्मण लोग एक प्रकार के दुराचारों में फँसे हुए थे, क्योंकि मनुस्मृति 9/311॥ में लिखा है कि—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्या परमं दैवतं हि तत्॥

अर्थात्—यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीचकर्मों में लगे रहते हैं, तो भी वे सब प्रकार से पूजनीय ही हैं क्योंकि उनमें बड़ा भारी देवत्व है। परन्तु जब कोई हमारे सन्मुख मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक 2/28—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

जिसका अर्थ है ''सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि) नियम पालने, होम करने (अर्थात् अग्निहोत्र करने वा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग तथा सत्यविद्याओं के दान देने), (वेदस्थ कर्मोपासना ज्ञान) इन तीन प्रकार की विद्याओं के ग्रहण, इज्या अर्थात् पक्षेष्ट्यादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति करने, (ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव तथा अतिथि नाम) पञ्चमहायज्ञों और (अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या-विज्ञानादि) यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् (वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप) ब्राह्मण का शरीर किया जाता है।''

कोई प्रश्न करेगा और हमसे पूछेगा कि मनुस्मृति के अनुसार तो कोई पुरुष ब्राह्मण बन ही नहीं सकता जब तक कि उक्त प्रकार से तप न कर ले, आप कैसे कहते हैं कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि ब्राह्मण लोग सब कुकर्मों में लिप्त थे? तो सिवाय मौनसाधन करने के हमसे कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकेगा, और जबकि प्रश्नकर्ता यह कहने लगेगा कि मनुस्मृति 2/28 में क्योंकि यह लिखा है कि बड़े तप से मनुष्य ब्राह्मण बनता है, अतः

मनुस्मृति उस समय बनी जबकि बड़े तपस्वी ही सर्वोपरि पूज्य माने जाते थे, तब भी हम उनके कथनों का खण्डन नहीं कर सकेंगे।

तात्पर्य यह है कि कतिपय योरोपीय इतिहासज्ञों तथा उनके कतिपय भारतीय शिष्यों की यह शैली है कि वे जब संस्कृत-ग्रन्थों में किन्हीं एक वा दो आधुनिक बातों को भी पा लेते हैं तो प्राय: उसी आधार पर उस ग्रन्थ का निर्माणकाल निश्चित करने लगते हैं। ग्रन्थ का काल निश्चित करने के समय जिस प्रकार वे आधुनिक बातों की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं उसी प्रकार उन्हें प्राचीन बातों की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि वे आधुनिक बातों के साथ-साथ प्राचीन बातों का कुछ विवेचन भी करते हैं तो उनका प्राचीनकाल-विषयक अनुमान उनके आधुनिक काल से अधिक दूर जाने नहीं पाता। कारण इसका यह है कि अनेक योरोपीय इतिहासज्ञ (जिनका नाम हम इस अध्याय के आरम्भ में ले चुके हैं वे भी) बाइबल-प्रतिपादित सृष्टि-समय पर विश्वास करनेवाले हैं जो कि ईसाइयों के मतानुसार ईसा के जन्म से केवल कतिपय सहस्र वर्ष पूर्व था। यदि किसी आर्षग्रन्थ की कोई बात ईसाइयों के अनुमित सृष्टि-काल से पूर्व की कही जाती है तो बाइबल के विश्वासी इतिहासज्ञ उसे बाइबल के विरुद्ध समझते हुए असम्भव मानने लगते हैं। यहाँ कारण है कि योरोपीय इतिहासज्ञ आर्ष ग्रन्थों के निर्माणकाल के निरूपण में अभी तक कृतकार्य नहीं हुए। मन्वन्तरों और चतुर्युगियों तथा ब्राह्म-दिन की बातें, जिन्हें संकल्प द्वारा प्रत्येक भारतीय कर्मकाण्डी कण्ठस्थ रखता है, उन्हें महान् असम्भव प्रतीत होती है। परन्तु हर्ष की बात है कि भूगर्भविद्या के आविष्कार सृष्टि की प्राचीनता का धीरे-धीरे पोषण कर रहे हैं और अनेक योरोपीय विद्वान् उस पर अब श्रद्धा करने लगे हैं, अस्तु।

गत शताब्दी के संस्कृत-विद्या के सबसे बड़े विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने तब तक आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का लक्षण कर यह नहीं बतलाया था कि अनेक आर्षग्रन्थों में भी बहुत-सी अनुचित बातें वाममार्गियों के समय से मिलती हुई चली आती है, तब तक लोगों को संस्कृत के सत्यासत्य ग्रन्थों की ठीक कसौटी प्राप्त नहीं हुई थी। आर्षग्रन्थों में स्वार्थपरता, मद्य-मांस-सेवनादि कुत्सित कर्मों के विधायक जितने वचन हैं, वे सब के

सब वाममार्गियों के मिलाये हुए हैं, क्योंकि ऐसे कुत्सित वाक्य उन्हीं आर्षग्रंथों की महोत्तम शिक्षाओं से विरुद्ध दिखाई देते हैं। एवं मनुस्मृति 5/56 ॥—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

को देखकर यह निश्चित नहीं करना चाहिए कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि वाममार्गियों की शिक्षा फैल चुकी थी। परन्तु इतिहासज्ञ को कोई इस परिणाम के निकालने से नहीं रोक सकता कि मनुस्मृति उस समय भी विद्यमान थी जबकि वाममार्ग का प्रचार हो रहा था, अस्तु।

मनुस्मृति की उत्पत्ति किससे ?—(ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुव मनु)[1] : प्राचीन संस्कृतग्रन्थों को अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भकाल में ब्रह्मा नामक एक महर्षि हुए थे, उनके पुत्र का नाम विराट् था और विराट् के पुत्र मनु हुए थे। मनु के समय में कुछ राजनीतिक चर्चा चली थी। मनु के पुत्र मरीचि, भृग्वादि दश हुए जिनमें से मरीचि को कुछ राजप्रबन्ध सौंपा गया था। परन्तु जब इसके वंशज 'स्वायम्भुव मनु' राज करने लगे, तब राजप्रबन्ध की ओर लोगों का ध्यान पूर्वापेक्षा अधिकतर आकर्षित हुआ। क्योंकि कोई भी राजप्रबन्ध मौखिक वा लिखित राजव्यवस्था के बिना नहीं हो सकता, अत: अनुमान किया जाता है कि जब से राजनीतिक चर्चा आरम्भ हुई तभी से राजव्यवस्था भी बननी आरम्भ हुई। छान्दोग्य ब्राह्मण में जो यह लिखा है कि

मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः।

''जो कुछ मनु ने कहा है कि ओषधियों की भी ओषधि है वह अधिक सम्भव है विराट् के पुत्र मनु के विषय में ही हो, क्योंकि केवल 'मनु' नाम से विशेष ज्ञानी सबसे प्रथम वही प्रख्यात हुए थे। आपस्तम्बादि धर्मसूत्रों में मानवधर्मसूत्र के वचन उद्धृत हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनु के

---

1. लेखक ने मनु और स्वायम्भुव मनु, दो पृथक् व्यक्ति माने हैं। एक-आध उल्लेखों को छोड़कर समस्त प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा दोनों को एक ही व्यक्ति मानती है। स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्मा, उसका पुत्र या पौत्र होने से प्रथम मनु को ही 'स्वायम्भुव' वंशज नाम दिया जाता है। स्वायम्भुव आदि चौदह मनु हुए हैं जिनके नाम पर चौदह 'मन्वन्तर' प्रचलित हैं। स्वायम्भुव ही प्रथम राजा था।—सम्पादक

नाम से कोई धर्मसूत्र भी प्रवृत्त था। परन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण इस समय नहीं है जिससे हम सिद्ध कर सकें कि मानवधर्मसूत्र ही महर्षि मनु का अपना कथन है। यदि मानवधर्मसूत्र कहीं मिलता तो इस विषय की मीमांसा हो जाती, परन्तु शोक कि वह अमूल्य रत्न भी लुट गया और इस समय उसका पता कहीं नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि जिस धर्मशास्त्र को मनु ने बनाया होगा, उसके 'आधार पर महाराज स्वायम्भुव मनु' के समय राजप्रबन्ध की विशेष वृद्धि हो जाने के कारण अवश्य ही कुछ नये नियम बने होंगे। एवं आर्यों का राज्य ज्यों-ज्यों विस्तृत होता गया होगा और ज्यो-ज्यों उनके सन्मुख अनेक नूतन प्रश्न उपस्थित होते गये होंगे, त्यों-त्यों आर्य लोगों ने मानवधर्मशास्त्र के आधार पर उन प्रश्नों की मीमांसा की होगी और अधिकाधिक नूतन नियम भी बनाये होंगे। वर्तमान मनुस्मृति के देखने से ज्ञात होता है कि महर्षि भृगु तथा स्वायम्भुव मनु का नाम मानवधर्मशास्त्र के सम्बन्ध में बारम्बार आता है, जिसका कारण यही है कि महर्षि भृगु मानवधर्मशास्त्र के प्रथम प्रचारक तथा स्वायम्भुव मनु मानवधर्मशास्त्र के नियमों को भली-भाँति कार्य-परिणत करनेवाले प्रथम बड़े राजा हुए हैं। सम्भव है कि मानवधर्मशास्त्र के सम्बन्ध में इन लोगों ने इतना श्रम किया हो कि उक्त शास्त्र के साथ-साथ इन लोगों का नाम सम्बन्धित रखना इनसे पीछे की प्रजा ने आवश्यक समझ लिया हो।

(1) एक अनुमान—किसी-किसी का एक अनुमान तो यह है कि मानवधर्मशास्त्र के निर्माण के एक दीर्घकाल के पश्चात् जब कि किसी पुरुष ने मानवधर्मशास्त्र को श्लोकबद्ध मनुस्मृति के आकार में परिणत किया, तब उसने ही महर्षि भृगु तथा महाराज स्वायम्भुव मनु के मानव-धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कथनों को भी साथ ही साथ रख दिया जिस कारण मनुस्मृति में कहीं तो मनु के नाम से लिखा है कि—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ *(मनु० 2/7)*

अर्थात् "जो कुछ जिस किसी के लिए धर्म मनु ने कहा है वह सर्व वेद में (मूलरूप से) वर्तमान है क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है।" कहीं भृगु के नाम से लिखा है कि—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम्॥ *(मनु० 12/2)*

अर्थात् "उस धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु ने महर्षियों से कहा कि इन सब कर्मयोग के निर्णय को सुनिये" और कहीं स्वायम्भुव मनु के नाम से लिखा है कि—

अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(मनु० 6/54)*

अर्थात् "स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि यतियों के भिक्षापात्र तूंबी, लकड़ी, मट्टी तथा बाँस के होते हैं।"

एवं इस मनुस्मृति में महर्षि मनु तथा उसके धर्मशास्त्र के आधार पर कहे हुए महर्षि भृगु तथा महाराज स्वायम्भुव मनु के कथन भी मिश्रित हैं। परन्तु इस अनुमान पर कोई भी पुरुष तब कुछ श्रद्धा कर सकता है जबकि मनुस्मृति में मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आये हुए कई श्लोक जो भ्रष्ट हैं, प्रक्षिप्त मान लिये जायें।

(2) द्वितीय अनुमान—दूसरों का अनुमान यह है कि जिन-जिन श्लोकों के साथ मनु वा भृगु या स्वायम्भुव मनु लिखा है, वे सब के सब प्रक्षिप्त हैं। जब मानवधर्मशास्त्र श्लोकबद्ध बन चुका तो लोगों ने पीछे से 'मनु' वा 'भृगु' वा 'स्वायम्भुव मनु' के नाम से जिस-जिस विषयों को अपने मन के अनुकूल चाहा, मिश्रित कर दिया, क्योंकि उन्होंने यह समझा होगा कि जिन श्लोकों के साथ मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु का नाम होगा वे तो अवश्य ही माननीय समझे जायेंगे। अत: मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आये श्लोक तथा वे सब श्लोक जो मनुस्मृति में ही प्रतिपादित सर्वहितसाधक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा वेदाशयविरुद्ध हैं, मनुस्मृति में से निकाल दिये जायें, तो शेष मनु के शुद्ध उपदेश समझे जायेंगे अस्तु।

हमारी सम्मति—वर्तमान मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में ध्यातव्य है कि यह एक समय में नहीं बनी। प्रथम-प्रथम मानवधर्मशास्त्र, श्लोकबद्ध शुद्ध मनुस्मृति के रूप में कब परिणत हुआ, यह अब ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो सकता। मनुस्मृति के सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं जो

उपनिषद्-वाक्यों की भाँति विशद और उच्चभावों के वर्णन करनेवाले हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो श्लोकों पर ही विचार कीजिए—

1. **प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।**
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ *(मनु० 12 / 122)*

अर्थात्—"जो सबको शिक्षा देनेहारा सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वप्रकाशस्वरूप समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम पुरुष जानना चाहिए।"

(यह श्लोक '**अणोरणीयान्**....', '**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं**....', '**दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या**....' आदि उपनिषद् के श्लोकों से कितना मिलता है!)

2. **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।**
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ *(मनु० 12 / 123)*

अर्थात्—"इसको कोई तो (स्वप्रकाशस्वरूप होने से) अग्नि, कोई (विज्ञानस्वरूप होने से) मनु, कोई (सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से) इन्द्र, कोई (सबका जीवनमूल होने से) प्राण, और कोई इसे (निरन्तर व्यापक होने से) ब्रह्म कहते हैं।"

(यह श्लोक यजुर्वेद के 32वें अध्याय के प्रथम मन्त्र "**तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" तथा ऋग्वेद मण्डल 1, सूक्त 164 के 46वें मन्त्र '**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**' के साथ कितना मिलता है!)

क्या कभी सम्भव था कि ईश्वर तथा वेद के नाम से स्वार्थी पुरुषों के द्वारा अनेक अनर्थ जब कि बुद्धदेव के समय (ईसा के जन्म से प्रायः साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व) प्रवृत्त हो रहे थे तथा बुद्धदेव के समय से शताब्दियों पूर्व जबकि पशुहिंसामय यज्ञ बारम्बार हुआ करते थे ऐसे ज्ञानमय श्लोकों की रचना की ओर रुचि हुई हो?

यदि कोई ऐसा कहे भी कि उत्तम वा निष्कृष्ट पुस्तक सभी समयों में बन सकते हैं, तो भी मनुस्मृति में जगह-जगह जो उपनिषदों की-सी ज्ञानमय लहरें चल रही हैं, वे हमें बाध्य करती हैं कि हम उन्हें उस प्राचीन समय की बतायें जब कि भारत में ईर्ष्या-द्वेष-रहित उपनिषदों में वर्णित शुद्ध

सात्विकभाव का प्रवाह बह रहा था। परन्तु हमारा यह कथन हमारे हृदय का भावमात्र है; अन्यों को भी इस भाव के धारण करने के लिए हम बाधित नहीं कर सकते।

इस तृतीय भाग के आरम्भ में बहुत से श्लोक मनुस्मृति के, जो महाभारत में तथा रामायण में उद्धृत दिखाये गये हैं, उनके विषय में जब तक कोई यह न सिद्ध कर दे कि वे श्लोक महाभारत तथा रामायण से मनुस्मृति में गये, तब तक यही मानना पड़ेगा कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत वा वाल्मीकिरामायण की रचना के पूर्व भी विद्यमान थी।

इस मनुस्मृति में केवल महर्षि मनु के समय की वार्ता हो अथवा महाराज स्वायम्भुव मनु के समय तक की वार्ता हो—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुस्मृति में आर्यावर्त की जो सीमा लिखी है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ *(मनु० 2।22)*

वह सिद्ध कर रही है कि जब पूर्व-समुद्र से पश्चिम-समुद्र तक (अर्थात् वर्तमान अरबसागर से बंगाल की खाड़ी तक) के बीच के देश में तथा विन्ध्यगिरि के आस-पास के भी बहुत-से भागों में जबकि आर्य बस चुके थे, तब यह श्लोक रचा जा सका, क्योंकि स्वायम्भुव मनु के बहुत दिन पीछे महाराज इक्ष्वाकु आर्यावर्त को बसाने लगे थे अतः आर्यावर्त की सीमासूचक उक्त श्लोक निस्सन्देह महाराज इक्ष्वाकु के समय वा उनके समय से भी पीछे बन सका होगा। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति के श्लोक—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ *(मनु० 10।43)*
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्लवश्चीनाः किराता दरदाः खशा॥ *(मनु० 10।44)*

जिनका अर्थ है कि ''क्रियाओं के लोप होने से और ब्राह्मणों के न मिलने से ये क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे वृषलत्व को प्राप्त हो गईं अर्थात् पतित हो गईं, (उन क्षत्रिय जातियों के नाम है)—''पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद, और खश'' सिद्ध कर रहे हैं कि आर्यावर्त के धर्मपरायण ब्राह्मणों का प्रचार जब किसी कारण

रुक गया और उक्त चीनादि जातियाँ पूर्ण धर्मशिक्षा प्राप्त न कर सकीं तब पतित हो गईं। अर्थात् उक्त दोनों श्लोक उस सयम के पश्चात् बने जब कि आर्यावर्त भली-भाँति बस चुका और इसके ब्राह्मण कुछ काल तक भली-भाँति धर्मप्रचार कर किसी कारण कुछ काल के लिए इधर-उधर जाने से रुक गये। क्योंकि उक्त दशाएँ महर्षि मनु वा उनके पुत्र महर्षि भृगु वा मरीचि वा उनके वंशज स्वायम्भुव मनु के समयों की नहीं हो सकतीं, अतः निश्चय है कि उक्त श्लोक जो आशय प्रकट करते हैं वे उक्त महानुभावों के समयों के बहुत पीछे के हैं। इसी प्रकार के अन्यान्य भी कई श्लोक ऐसे हैं जिनके भाव तो अति उत्तम हैं, परन्तु वे मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के समयों के नहीं हो सकते। वाममार्ग की शिक्षावाले श्लोक यथा—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ *(मनु० 5।56)*

तथा मनुस्मृति तृतीयाध्याय के वे सब श्लोक जो भिन्न-भिन्न पशुओं के मांसों से पितरों के लिए पिण्डप्रदान की शिक्षा देते हैं, तब वे सब श्लोक जो स्वार्थपरता तथा अन्यान्य क्षुद्राशयों की शिक्षा देते हैं, जो मनुस्मृति के गम्भीर आशययुक्त सर्वहितकारी सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं, निस्सन्देह बहुत पीछे से मनुस्मृति के भाग बने हैं।

इन सब कथनों को श्रवण कर कदाचित् कोई ऐसा प्रश्न करे कि यह क्यों न माना जाये कि मनुस्मृति उक्त सब अवस्थाओं के व्यतीत हो जाने पर, पीछे से नवीनकाल में बनी? तो उसका उत्तर यह है कि यदि नवीनकाल में ही मनुस्मृति बनी होती तो इसके प्रमाण महाभारत तथा वाल्मीकिरामायण में नहीं मिलते। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है कि सारी की सारी वर्तमान मनुस्मृति प्राचीनकाल में विद्यमान थी, क्योंकि इसमें जो क्षेपकरूप आधुनिक वार्ताएँ हैं वे प्राचीनकाल की नहीं मानी जा सकतीं।

मनुस्मृति से निकले हुए तथा उसमें प्रक्षेप किये हुए श्लोकों की संख्या—इसके अतिरिक्त निरुक्त अध्याय 3, पा० 1 में लिखा है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

परन्तु यह श्लोक वा इस आशय का कोई अन्य श्लोक अब मनुस्मृति में नहीं मिलता। इसी प्रकार शङ्करदिग्विजय, मिताक्षरा, निर्णयसिन्धु, स्मृतिरत्नाकर, पराशरमाधव, स्मृतिचन्द्रिका, विवादभङ्गार्णव, प्रायश्चित्तमयूख आदि अनेक ग्रन्थों में मनु के नाम से पचासों वचन उद्धृत हैं, परन्तु उनका पता वर्तमान मनुस्मृति में नहीं लगता। इससे सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में पहले बहुत-से श्लोक ऐसे भी थे जिन्हें वा जिनके आशयों को अन्यान्य ग्रन्थकारों ने उद्धृत किया था, परन्तु किसी कारण वे श्लोक निकल गये। ऐसा भी सम्भव है कि क्षेपक भरनेवालों ने ही मनुस्मृति से श्लोकों को निकाला हो और उनके स्थानों में अपने श्लोक रख दिये हों जिससे गणना में भेद न होने पाये। परन्तु पाप एक न एक दिन प्रकट होता ही है। तदनुसार उनकी अनुचित कार्यवाही दिनोंदिन अधिक-अधिक प्रकट होती जाती है। मनु के वचन जो अन्यान्य ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु अब वे मनुस्मृति में नहीं है, उनकी संख्या प्राय: 300 तक अद्यावधि जानी गयी है, तथा जो श्लोक मनुस्मृति में क्षेपकरूप से वाममार्ग के प्रचारकाल के कुछ समय पूर्व वा पीछे से मिलाये गये हैं, उनकी संख्या प्राय: 400 तक है।

हमारे ऊपर के लेख का अवलोकन कर तथा अधीर होकर कोई ऐसा भी कह सकता है कि जब कि मनुस्मृति इस प्रकार जोड़-तोड़ और काट-छाँट के भीतर पड़ चुकी है तो उस पर श्रद्धा करना भी व्यर्थ ही है। परन्तु ऐसे कथन करनेवाले को हम सम्मति देंगे कि वह एक बार आद्योपान्त मनुस्मृति को पढ़ जावे, पुन: मनुस्मृति के बहुमूल्य रत्न जो कूड़े-करकट के साथ-साथ भी दमक रहे हैं, वे आप ही उनके मन को आकर्षित कर लेंगे। अब इन बातों को छोड़ कि इस मनुस्मृति में अमुक-अमुक श्लोक मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु की प्राचीन शिक्षानुसार कहे जा सकते हैं तथा अमुक-अमुक श्लोक श्रीमान् महाराज इक्ष्वाकु के समय के पीछे के किसी धार्मिक विद्वान् वा विद्वानों के कहे हुए तथा अमुक-अमुक श्लोक वाममार्ग के प्रचार के कुछ समय पूर्व वा पीछे के किन्हीं साधारण पढ़े-लिखे तथा स्वार्थप्रिय लोगों के हैं, हम 2654 श्लोकवाली पूर्ण वर्तमान मनुस्मृति के कतिपय लाभकारी विषयों को संक्षेपत: अंकित करते हैं।

आर्य और दस्यु—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित पैंतालीसवें

श्लोक से ज्ञात होता है कि संसार की मनुष्य-जाति के मुख्य दो भेद थे। एक भेद के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे और दूसरे भेद के अन्तर्गत वे सब मनुष्य थे जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रों से उत्पन्न होकर भी (चाहे वे समवर्ण के स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न हुए हों वा विषमवर्ण के स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न हुए हों) भ्रष्टाचार के कारण दुष्ट वा दस्यु कहलाते थे। यथा—

मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ *(मनु० 10।45)*

अर्थात् ''इस संसार में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुई परन्तु (भ्रष्टाचार के कारण) उनसे बहिष्कृत हुई जो जातियाँ हैं, चाहे वे म्लेच्छ-भाषा बोलती हों या आर्यभाषा बोलती हों, वे सबकी सब दस्यु नाम से पुकारी गयी हैं।[1] इस श्लोक से यह भी प्रकट होता है कि संसार के

1. मालूम होता है कि दस्युओं के भीतर केवल वही दुराचारी लोग सम्मिलित नहीं थे जो अतिमूर्ख होने से 'आर्यवाचः' उस समय की आर्यभाषा अर्थात् संस्कृत के शब्दों को विस्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकने के कारण म्लेच्छ भाषा बोलते हों, प्रत्युत दस्युओं के भीतर उन दुराचारियों की भी गणना थी जो आर्यभाषा भली-भाँति बोल भी सकते थे। महर्षि पाणिनि अपने धातुपाठ में लिखते हैं, ''म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे'' अर्थात् म्लेच्छ धातु का प्रयोग 'अविस्फुट भाषण' अर्थ में होता है जिससे पता लगता है कि जो लोग अतिमूर्ख रहने के कारण संस्कृत-शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सके और संस्कृत-शब्दों को बिगाड़-बिगाड़कर बोलने लगे, उन्हीं की भाषा म्लेच्छ (अविस्फुट) कहलाने लगी। क्योंकि आर्यावत तथा उसके आसपास के स्थानों से भिन्न देशों में संस्कृत का प्रचार वैसा नहीं रह सका जैसा कि आर्यावर्त में तथा इसके आस-पास रहा, इस कारण अन्यान्य देशों में म्लेच्छ-भाषा अधिकतर फैल गई और उसके भी अनेक भेद हो गए। क्योंकि जिस स्थल में जिस वस्तु की अधिकता होती है वह स्थान प्रायः उसी नाम से पुकारा जाता है, यथा जिस ग्राम में अधिक वणिक् हों और ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र कम हों तो उस ग्राम को प्रायः वणिकों का ग्राम कहते हैं, उसी प्रकार संस्कृतभाषियों के देश आर्यावर्त तथा उसके आस-पास के स्थानों से भिन्न-भिन्न देशों में म्लेच्छ भाषा (मूर्खों की भाषा) बोलनेवालों की अधिकता के कारण उन देशों का नाम भी म्लेच्छ देश पड़ गया और इसी कारण मनुस्मृति अध्याय 2 श्लोक 23 में लिखा है ''म्लेच्छदेशस्ततः परः'' अर्थात् आर्यभाषियों के देश से म्लेच्छ देश परे है। क्योंकि दस्युओं के भीतर आर्यभाषी कम और मलेच्छभाषी अधिक थे, इस कारण संभव है कि कालांतर में दस्युओं का नाम म्लेच्छ भी पड़ गया हो।

मनुष्य-मात्र एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं, क्योंकि दस्युओं की उत्पत्ति भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से ही हुई है; दोनों कोटि के मनुष्यों में भेद केवल सदाचार और दुराचार का ही है।

जबकि उक्त श्लोकानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुए मनुष्य भी दुराचार के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं रह सके, तो निश्चय है कि सदाचार के धारण करने पर दस्यु-नामांकित मनुष्य वा उनकी सन्तान भी नीच नहीं बनी रह सकती।

क्या वर्तमान आर्य, मनुस्मृति की उक्त शिक्षा पर ध्यान देंगे और अपने पुरुषाओं से बिछुड़े हुए दस्युओं की सन्तानों के बीच भी सदाचार का प्रचार कर पुनः उन्हें श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करेंगे।

द्विजाति और शूद्र—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि वर्ण केवल चार ही होते हैं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ *(मनु० 10।4)*

अर्थात् ''ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण 'द्विजाति' हैं और चौथा शूद्र 'एक जाति' है, (इनके अतिरिक्त) पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं है।'' ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति अर्थात् दो जन्मवाले इस कारण कहलाते हैं कि उन्होंने शरीर-सम्बन्धी एक जन्म तो अपने माता-पिता से धारण किया था और दूसरा ज्ञान-सम्बन्धी जन्म उन्होंने 'गुरु' नामक पिता और सावित्री नामक माता से ग्रहण किया; और शूद्र एकजाति अर्थात् एक जन्मवाला इस कारण कहलाता है कि वह शरीर-सम्बन्धी केवल एक जन्म अपने पिता-माता से ग्रहण कर सका और गुरु की शरण में उपस्थित हो ज्ञान-सम्बन्धी दूसरा जन्म धारण न कर सका। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रकुल में उत्पन्न हो गया, वह सदा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र ही बना रहेगा, क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ *(मनु० 10।65)*

अर्थात् ''शूद्रकुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य हो जाये,

वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाये, वैसे ही क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण व शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी हो जाता है।''

इस श्लोक से यह भी भाव टपकता है कि शूद्रों की उन्नति में प्राचीन समय में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली जाती थी। यदि रुकावट डाली जाती तो ब्राह्मण बनने के लिए जो पूर्णज्ञान और तपश्चरण की आवश्यकता है उसे शूद्र कुमार किस प्रकार धारण कर सकता!

इस श्लोक के भाव के विरुद्ध जो श्लोक मनुस्मृति में आते हैं वे प्रक्षिप्त हैं क्योंकि मनुस्मृति का उद्देश्य क्या है, इस विषय को वर्णन करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ *(मनु० 2/8)*

अर्थात् ''विद्वान् को चाहिए कि इस सबको (इस धर्मशास्त्र को) ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाणों से जाँचें और अपने धर्म वा कर्तव्य में संलग्न हो जायें।''

और क्योंकि यह परम प्रसिद्ध बात है कि वेद के मन्त्र '**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय**' में शूद्रों के लिए भी वैदिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता बतलाई है, अतः मनुस्मृति का श्लोक '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च**' वेदानुकूल होने से प्रामाणिक और इससे विरुद्ध भाववाले श्लोक अप्रामाणिक हैं। चारों वर्णों का धर्म वर्णन करते समय शूद्रों के विषय में पुनः लिखा जायेगा, उसे भी अवलोकन कर लेना चाहिए।

6

मनु की देन

स्व. पं. भगवद्दत्त
(वैदिक इतिहासकार)

1. वेद का महत्व—अपने असाधारण और अति व्यापक ज्ञान के कारण, अपनी सूक्ष्मेक्षिका से, अपनी सात्विक और निर्मला प्रज्ञा से, अपने उस असीम योगबल से, जिसके आधार पर वह भूत, भव्य और भविष्य को जान गया, मनु ने वेद के अलौकिक ज्ञान-विज्ञान का गीत गाया। मनु का उपदेश है—

(क) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। *(2/6)*

अर्थात्—वेद सम्पूर्ण धर्म (कानून Law) का मूल है। धर्म, राज्य का एक प्रधान अंग है। धर्म से ही दण्ड चलता है।[1]

धर्म से आचार-मर्यादा स्थिर होती है। धर्म से स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, सेनापति-सेना, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, व्यापारी-व्यापार बँधे हुए हैं। धर्म-विहीन राजा-प्रजा गहरे गर्त में गिर जाते हैं।

इस सम्पूर्ण धर्म का मूल वेद है। परन्तु गत 1500 वर्ष में भारतीय लोग इस सत्य को भूल गये। इस काल में एक विश्वरूप आचार्य (संवत् 600 के समीप) हुआ है, जिसने बालक्रीड़ा-व्याख्या में याज्ञवल्क्य के श्लोकों की पुष्टि वेदमन्त्रों और ब्राह्मण-पाठों से की है। अन्य टीकाकारों का इधर ध्यान भी नहीं गया।

वेद का यथार्थ विद्वान्—भारतीय संस्कृति में वही पुरुष वेद का पण्डित अथवा वैदिक विद्वान् माना जायेगा, जो वेद की श्रुतियों से सम्पूर्ण

1. सर्वो दण्डजितो लोकः। *मनु 7/22*

धर्मशास्त्र का आगम बता सके। दण्ड-विधान की सूक्ष्मताएँ वेद-मन्त्रों से दिखानी आवश्यक होंगी।

समाज-शास्त्र का आधार वेद—मनुष्य समाज में रहता है। समाज का ढाँचा वेद से चला है। तभी समाज-शास्त्र की आवश्यकता पड़ी। उसकी रक्षा दण्ड-विधान से हुई। अत: उस शास्त्र का आधार वेद है।

(ख) वेद और वेद का प्रतिपादक मनु दोनों सर्वज्ञानमय।

मनु कहता है—

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ 2॥

अर्थात् जो कुछ किसी का भी धर्म मनु ने कहा, वह सब वेद में कहा गया है। वेद सर्वज्ञानमय है। (अथवा मनु भी सर्वज्ञानमय है।)

मनु-विषयक यह दूसरा अर्थ श्लेष से आकृष्ट होता है। गोविन्दराज ने पहला अर्थ ही ठीक माना है।

सर्वज्ञानमूलक वेद—मनु के श्लोक से पहले कह चुके हैं कि वेद अखिल धर्म का मूल है। अब उससे भी अधिक कथन है—वेद सर्वज्ञानमय है। वेद का अध्यापक, वेदपारग सर्वज्ञानमय होता है।

वर्तमानकाल के भारतीय विश्वविद्यालयों के नाममात्र महोपाध्याय जो वेद पढ़ा रहे हैं, वे इस गुण के समीप फटक भी नहीं रहे हैं। वस्तुत: वे वेद नहीं जानते। उनको वेदाध्यापक बनाना भारतीय संस्कृति के साथ उपहास करना है।

आर्यसमाज का तीसरा नियम—दूरदर्शी, महामुनि पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाया—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इस नियम का मूल मनुस्मृति का यही श्लोक है। इस नियम के शेष भाग का मूल मनु० 4। 147॥ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती मनु के अनन्य-भक्त थे। उन्होंने अपने उपदेश का आधार उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता को नहीं बनाया। शंकर, रामानुज और वल्लभ आदि पुरातन आचार्यों से वे अधिक दीर्घ-दर्शी थे। उनका मार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का मार्ग था। वे राजनीति को भी मानव-कल्याण का सोपान मानते थे। अत: वेद से उतर के उन्होंने मनुस्मृति को अपने उपदेश

का अंग बनाया और मनुस्मृति के सतत-अभ्यास से वेद के सर्वज्ञानमय होने का तथ्य उनके हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गया।

वेद में त्रिकाल-ज्ञान—मनु के लिए वेद की महत्ता अन्य कारण से भी है। वेद में त्रिकाल का ज्ञान है। मनु कहता है—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। *(12 / 97)*

अर्थात्—भूत = सारी, सृष्टि = उत्पत्ति, वर्तमान और जो कुछ आगे होगा, यथा प्रलय और उसके पश्चात् भी, वह सब वेद में वर्णित है।

यह विज्ञान की चरम सीमा है, बुद्धि के ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है और योगज-प्रत्यक्ष-दर्शन की अपरिमित महिमा है।

वेद-निन्दक नास्तिक—इस महत्व-परिपूर्ण, शुभ्रज्ञान की जो निन्दा करता है, वही नास्तिक है। मनु कहता है—

नास्तिको वेदनिन्दकः। *(2 / 11)*

अतः आगे बतायेंगे कि नास्तिक-आक्रान्त देश किस प्रकार विनाश को प्राप्त होते हैं।

वेद-पुण्य—इसलिए मनु ने—वेदफल 1 / 109 ॥, वेदपुण्य से युक्त होना—2 / 78, वेदाभ्यास परमतप—2 / 166 ॥, वेदचक्षु—12 / 94 ॥ से वेद की महिमा गाई है।

भारतवर्ष के कल्याण के लिए तथा इसकी पूर्व-प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए वेदज्ञान के उपार्जन और प्रसार का अभूतपूर्व आन्दोलन होना चाहिए। अंग, उपांग और ब्राह्मण ग्रन्थों के शतशः जाननेवाले, सदाचार की सुदृढ़ नींव पर खड़े होकर यह कठिन काम कर सकेंगे।

2. वर्णाश्रम की श्रेष्ठ मर्यादाएँ—मनु की दूसरी देन वर्णाश्रम-मर्यादा की स्थापना है। इस मर्यादा से रहित संसार आज दुःख-क्रन्दन कर रहा है। लोभ से अति-पीड़ित हो रहा है।

मनु का ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ—ब्राह्मण धन-बल से ऊँचा नहीं है, ब्राह्मण बाहु-बल से भी ऊँचा नहीं है। वह ऊँचा है अपने अप्रतिम ज्ञान-बल से। उसका विशिष्ट-ज्ञान वेद पर आश्रित है। उसकी बड़ाई ज्ञान से ही है—
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्। *(2 / 155)*

ब्राह्मण आविष्कारक—सृष्टि के सुख के लिए परमोच्च ब्राह्मण

भगवान् ब्रह्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों का शासन किया। उशना=शुक्र और बृहस्पति ने अनेक विद्याएँ रचीं। उशना ही मृतकों को जीवित करने में सशक्त हुआ। ब्राह्मण विश्वकर्मा ने अपूर्व शिल्प आविष्कृत किये। भरद्वाज ने आकाश-गंगा तक उड़ने वाले विमान बनाये। ब्राह्मण-प्रवर व्यास ही दिव्य चक्षु = विद्युत आँखें दे सका।

आर्य जाति में राजा, प्रधानमन्त्री, अथवा गण-नायक इतना पूज्य नहीं, जितना यथार्थ ब्राह्मण पूज्य है। ब्राह्मणों और ऋषियों से अपनी कन्याओं का विवाह करके आर्य राज-गण अपना गौरव मानते थे। वेदज्ञ ब्राह्मण ही यथार्थ नेता होता है।

सर्वतः श्रेष्ठ, ब्राह्मण—भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वही है, जो केवल अगले दिन की भोजन-सामग्री एकत्र रखता है। उससे न्यून श्रेष्ठ एक से छह मास की सामग्री वाला है। श्रेष्ठता का यही माप उत्तरोत्तर होता है। मनु० 4/2-7॥ ब्राह्मण लोलुप नहीं था। लोभ से धन स्वीकार करनेवाला ब्राह्मण विनाश को प्राप्त होता है, 3/179॥ ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह स्वाध्याय में रत रहे। स्वाध्याय-विरोधी अर्थोपार्जन के सम्पूर्ण व्यवहार उसे त्यागने चाहिए—**सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।** *(4/17)*

ब्राह्मण पर राष्ट्र का आधार—श्रेष्ठ राष्ट्र का आधार इस अतिमानुष (Superman) पुरुषों पर होता है। जो पुरुष किसी के हाथ बिक नहीं सकता, जो खरीदा नहीं जा सकता, वह विद्वान् ही राष्ट्र का आधार होता है। आज इन पूज्य पुरुषों के अभाव में भारत दुःखी है।

ब्राह्मण से भारत का गौरव—मनु-निर्दिष्ट मार्ग पर चलनेवाले इन्हीं ब्राह्मणों के गीत ह्वेनसांग, अलमासूदी, अलबेरूनी, निकोला, मनूची और कर्नल विल्फर्ड ने गाये हैं।[1] मार्श मैन ने भी लिखा है—

"The Directors of the East India Company opposed their (Christian missionaries) activities on the ground, among others, that these would interfere with the Hindu religion, which produced men of purest mo-

1. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 63-65

rality and strictest virtue."

निस्सन्देह आर्य धर्म ने पवित्रतम आचार और शुभ्र गुणयुक्त नर उत्पन्न किये थे।

इसका सारा श्रेय मनु और तदनुकूल आर्य राज्य को है। मनु का सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वही है, जिसकी सांसारिक वासनाएँ लघुतम हों। मनु की संस्कृति के प्रासाद की छत के स्तम्भ राजगण नहीं, ऋषि और श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं।

दोषी ब्राह्मण को चतुर्गुण दण्ड—ज्ञानवान् ब्राह्मण पूज्य है। वह श्रद्धा का स्थान है। पर दोषी होने पर मनु ने उसको छोड़ा नहीं। वह वाक्-पारुष्य आदि अधर्म करे, तो शूद्र की अपेक्षा उस पर दण्ड चतुर्गुण होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख मनु 8 / 268 ॥ में है। मनु ने ब्राह्मण की रियायत नहीं की। हाँ, ब्राह्मण के ज्ञान की रक्षा के लिए उसे अवध्य अवश्य कहा है। अन्यत्र स्तेय आदि में ब्राह्मण को शूद्र की अपेक्षा आठ गुणा वा सोलह गुणा दण्ड कहा है। 8 / 337, 338, 8 / 340, 373 भी द्रष्टव्य हैं।

दुष्ट ब्राह्मण की निन्दा—धर्मध्वजी, दुष्ट, वैडाल-व्रतिक, कठोर और छली ब्राह्मण की मनु ने घोर निन्दा की है—4 / 195-197 ॥

निःशुल्क शिक्षा—ब्राह्मण संचय (Hoard) नहीं करता था। उसका निर्वाह दक्षिणा पर था, अथवा उस भूमि पर था, जो राज्य की ओर से उसे मिलती थी। शतशः प्राचीन ताम्र शासन, जो आज भी मिलते हैं, इस बात का प्रमाण हैं। ये ब्राह्मण जाति को शिक्षा देने के काम में लगे रहते थे। अतः मनु ने शिक्षा का निःशुल्क प्रसार बताया है। राज्य की ओर से शिक्षा पर कोई धन विशेष व्यय नहीं किया जाता था। भृतकाध्यापक अर्थात् वेतन लेकर पढ़ानेवाले ब्राह्मण की निन्दा की गयी है—3 / 156 छात्र ऐसे ब्राह्मणों के पास रहकर अनुशासन और विनय सीखते थे।

ब्राह्मण भूमि का कर्षण स्वयं नहीं करते थे। अतः जो शूद्र उनके निमित्त भूमि-कर्षण करते थे, वे उनके सत्संग से श्रेष्ठ गुण सीखते थे। वे पतित होने की ओर नहीं झुकते थे। राष्ट्र में सदाचार का स्तर पर्याप्त ऊँचा रहता था।

मनु की व्यवस्था सर्वतोमुख सुख का प्रसार करती है।

क्षत्रिय प्रभुत्व का अभाव—मनु ने क्षत्रिय का अथवा राजा का प्रभुत्व नहीं रहने दिया। वह दण्ड चलानेवाला था। अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। साधारण अथवा प्राकृत जन की अपेक्षा दोषी ठहरने पर राजा को सहस्र गुणा दण्ड विहित है—3 / 336 ॥ राजा पर दण्ड का अधिकार श्रेष्ठ ब्राह्मणों को था। मनु-प्रदर्शित शासन अत्यन्त गहरा और कठोर है। इसमें किसी की रियायत नहीं; सिफारिश नहीं।

वेद-विद्या-रहित राज्याधिकारी नहीं—आर्य राज्य में कोई राजा, कोई राष्ट्रकर्णधार वेद-विद्याविहीन नहीं होना चाहिए। वेदाध्ययनशून्य क्षत्रिय भी राज्य का अधिकारी नहीं है। अतएव मनु कहता है—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्॥ *(7 / 2)*

अर्थात्—क्षत्रिय को ब्राह्म संस्कार अर्थात् वेद पढ़ने का सारा क्रम पार करना होगा। वही न्यायपूर्वक राष्ट्र का रक्षण कर सकता है।

आज भूमण्डल के वेद-ज्ञान्य शून्य शासक शतशः अन्याय कर रहे हैं। प्रजा पीड़ित हो रही है।

मनु पुनः कहता है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ *(12 / 100)*

अर्थात्—सेना-संचालन, राज्य और दण्ड-विधान के नेतृत्व=दण्ड-प्रणयन, अपि च सम्पूर्ण संसार के आधिपत्य के योग्य वेद-शास्त्र का ज्ञाता ही होता है।

इससे ज्ञात होता है कि धनुर्वेद की सम्पूर्ण शिक्षा वेद से मिल सकती है। निस्सन्देह वेद के इन्द्र और मरुत् देवता-विषयक सूक्तों में सैनिक ज्ञान के रहस्य अथवा सूक्ष्म तत्त्व ओत-प्रोत हैं।

राज्य-दण्ड पर आश्रित—मनु ने दण्ड की महती प्रशंसा की है। वस्तुतः दण्ड पर ही सारा लोक आश्रित है। वर्णाश्रम दण्ड से ठीक चलते हैं—7 / 17-29 ॥

राजा त्रिवर्ग का पण्डित—त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ और काम की गणना होती है। शासक को इन तीनों का ज्ञाता होना चाहिए। वह धर्मकामार्थकोविद

होना चाहिए—7 / 26 धर्म का ज्ञाता अर्थात् कानून का ज्ञाता। इसमें वह शाश्वत-धर्म भी सम्मिलित है, जो आदिकाल से चला आ रहा है। काम का ज्ञाता अर्थात् प्रजा-सुख के अखिल साधनों का ज्ञाता। और अर्थ का ज्ञाता अर्थात् सम्पूर्ण अर्थशास्त्र-विद्याओं का पण्डित।

आज इस महान् ज्ञान के बिना ही अगणित लोग लोकसभा और विधान-सभाओं के चुनाव लड़ते हैं। देश का इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है!

कठोरता की पराकाष्ठा—राजा का कर्तव्य है कि दोषयुक्त अथवा धर्म-विहीन होने पर अपने पिता, आचार्य, मित्र, माता, भार्या, पुत्र और पुरोहित को भी दण्ड दे। वहाँ दया आदि का कोई अवकाश नहीं।

राष्ट्र में शूद्र-संख्या न्यून रहे—मनु निरन्तर प्रोत्साहन देता है कि देश में शूद्र-संख्या न्यूनतम होनी चाहिए। वह प्रत्येक पुरुष को अवसर देता है कि शूद्र मत रहो। इसीलिए मनु आचारहीन, आलस्ययुक्त और अन्न-दोषवाले ब्राह्मण को गर्हित कहता है।[1] वह पतित ब्राह्मण को भी शूद्र ही बना देता है। उसका ध्येय मनुष्यमात्र को उन्नत करना है। इसलिए उसने स्पष्ट कहा है—

यद् राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तम् अद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ *(8 / 22)*

अर्थात् जो राष्ट्र शूद्रों की अधिकता से भरा पड़ा है, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है।

जघन्य शूद्र—जिस प्रकार से श्रेष्ठ और साधारण ब्राह्मण का सदा भेद है, उसी प्रकार अति निकृष्ट और उत्कृष्ट शूद्र का भी भेद है। शूद्र जघन्य भी है। वह कौन है? अज्ञानी, स्वार्थी, लोभी, व्यसनी, धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला जघन्य शूद्र है। ऐसे लोग राष्ट्र-हनन का कारण बनते हैं। जो शिल्पी लोभ आदि दुर्गुणों से रहित, परन्तु अज्ञानी है, वह शूद्रों में श्रेष्ठ है। मनु उसे ज्ञानमार्ग का अवलम्बी बनाकर उसके लिए ऊँचा मार्ग खोलता है। जिस मनु ने शूद्र के लिए ऊँचा मार्ग खोला है, उसका मानवमात्र

---

1. मनु० 5 / 4

के लिए महान् प्रेम है।

अमात्य-शुद्धि—मनु ने मन्त्रियों की शुचिता पर बहुत बल दिया है। उसी को ध्यान में रखकर विष्णुगुप्त ने अमात्यों पर भी राजा के अन्तरंग गुप्तचरों की व्यवस्था बताई है। रामायण में वाल्मीकि ने प्रशंसापूर्वक लिखा है कि दशरथ के अमात्य अत्यन्त शुद्ध और अनुकरणीय जन थे।

कूट आयुध और माया-निन्दा—मनु ने 7 /90॥ में कूट-आयुधों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। आज का संसार इस दिशा में तंग हो रहा है। ये कूट-आयुध विनाश का कारण बनेंगे। इनके साथ मनु ने 9 / 104॥ में माया-युद्ध की भी निन्दा की है। श्रीकृष्ण जब शाल्व के साथ युद्ध कर रहे थे, तो शाल्व ने माया-युद्ध आरम्भ कर दिया। इसका प्रतिकार तो कृष्ण ने कर दिया, पर अपनी ओर से इसका प्रयोग नहीं किया।

अस्त्रों के विषय में भी धनुर्वेद आचार्य मनु के आदेश का ध्यान रखते थे। जब सर्वास्त्र सीखकर अर्जुन हिमालय में अपने भाइयों से मिला, तो उन सबने अस्त्रों के चमत्कार देखने की इच्छा प्रकट की। अर्जुन ने अस्त्र चलाये। उस घटना का ज्ञान होते ही इन्द्र आदि आचार्य उस स्थान पर आये। उन्होंने पाण्डवों से कहा—युद्ध के बिना अस्त्र का प्रयोग वर्जित है, इस चमत्कार-दर्शन के विचार को त्याग दो। तब ऐसा ही किया गया। महाभारत के सर्वनाशक युद्ध में भी अर्जुन ने केवल एक दिन पाशुपतास्त्र का प्रयोग किया था।

यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम होना चाहिए कि अस्त्रों का प्रयोग युद्ध के सिवा अन्यत्र न हो। कभी संसार मनु की आज्ञा का पालन करता था। तब इतने विनाश का महाभय नहीं था।

आश्रम—आश्रमों की मनु-प्रणीत मर्यादा लोकहित का गुह्यतम निदर्शन है। ब्रह्मचारी सीधा-सादा रहता है। वह बूट और जूता नहीं पहनता। उसके वसन अति थोड़े होते हैं। वह नगरों के विषाक्त स्थानों से परे रहकर एकान्त में विद्याभ्यास करता है। उसका भोजन भी सादा और ब्रह्मचर्यवर्धक होता है। वह विनीत और संयतेन्द्रिय बनता है।

3. मनु धन्यवाद का पात्र—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा च ब्राह्मण और शूद्र को अत्यन्त सादा और न्यूनतम आवश्यकताओं वाला

बनाकर मनु ने समाज की आर्थिक समस्याओं का एक विशिष्ट हल दिया है।

आजकल के स्कूल और कालेजों के छात्र जिस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं, उसके कारण शौकीनी उच्च्व शिखर पर पहुँच रही है। देश के छात्रों के कोट और जूतों को तैयार करने के लिए ही लाखों लोग शूद्र बन रहे हैं। इस पर इतना भय नहीं था, पर उन लाखों शूद्रों की पर्याप्त संख्या भी जघन्य शूद्र बन रही है।

आदर्श 'Standard' की होड़—आज वानप्रस्थ के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। संन्यासी समाप्त से हो रहे हैं। इस Standard ऊँचा करने की दौड़ में सब पिस रहे हैं। Standard केवल क्षत्रिय और गृहस्थावस्था वाले का अपेक्षाकृत उठना चाहिए। शेष का Standard सादगी रहे तो देश की आर्थिक तुला के पलड़े समावस्था में रहेंगे, अन्यथा आदर्श ऊँचा करते-करते देश ही समाप्त हो जायेंगे। आचार का आदर्श वास्तविक आदर्श है। धन का आदर्श उससे बहुत नीचा स्थान रखता है।

3. आचार— भारतवर्ष के सम्पूर्ण धर्मशास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में आचार का अध्याय अत्यन्त आवश्यक समझा है। इसका कारण है, मनु ने आदि में आचार पर अति बल दिया था। उसी का अनुकरण उत्तरवर्ती शास्त्रों में हुआ। आर्य ऋषि-मुनि जानते थे कि मानवजीवन की यात्रा आचार के पाथेय पर आश्रित है। आचार से आयु मिलता है, आचार से प्रजाएँ गुणवती होती हैं, आचार से अक्षय धन—परलोक का सहायक धन मिलता है। आचार मानव-लक्षणों का उल्लंघन करके सुख की वर्षा करा देता है। मानव-लक्षण का अभिप्राय है, सम्पूर्ण शरीर के—माथा, आँख, दाँत, बाहु, अँगुलियों आदि के लक्षण।

आचार क्या है—आचार में सारे संस्कारों की गणना है। आचार में सोना, उठना, खाना, पीना, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा के व्यवहार के नियम हैं। फिर रात्रि के समय सिर किस ओर करके सोना चाहिए, यह भी आचार का अंग है। आचार परम धर्म है—1 / 108 ॥ इस आचार के अभाव में सारा भारत पीड़ित हो रहा है।

वर्तमान सरकार की आचार-संहिता—सुनते हैं, आजकल आचार-

संहिता, सम्भवतः चुनाव-विषयक आचार-संहिता बनाने पर बड़ा शोर मच रहा है। भला ये लोग, जो शाश्वत-ज्ञान से शून्य हैं, सब त्रुटियों को दूर करनेवाली कैसी आचार-संहिता बनायेंगे?

धनाधिकार—अब एक ऐसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि जिसका संसार में बड़ा कोलाहल है। धन का अधिकारी कौन है? धन किसके पास रहना चाहिए?—यह प्रश्न सदा से आवश्यक रहा है। मनु का उत्तर है—धन पर अधिकार राष्ट्र और व्यक्ति दोनों का है।

राज्याधिकार—राज्य का भूमि, भूमि की उपज, नदियों, जंगलों, पशुओं, खानों को करों (Tax) आदि पर अधिकार है। राज्य के द्वारा ही यह अधिकार व्यक्ति को मिलता है। तदनुसार व्यक्ति भूमि ले सकता है, उस पर अपना घर बना सकता है। उस पर कृषि करके राज्य-कोश में कर दे सकता है, इत्यादि। जहाँ राजा को यह अधिकार प्राप्त है, वहाँ प्रजा का संरक्षण राज्य का सर्व-आवश्यक कर्तव्य है।

कैसे व्यक्ति के पास धन रह सकता है—इस जटिल समस्या का मनु से अधिक अच्छा हल आज तक किसी ने उपस्थित नहीं किया। मनु कहता है—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः समप्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभौ॥ *(11/19)*

अर्थात्—जो पुरुष असाधु=कंजूस, दुष्ट, अतिलोलुप आदि से धन को छीनकर साधु=भले पुरुष को धन दे देता है, वह अपने शरीर को नौका बनाकर उन दोनों, साधु तथा असाधु को तार देता है।

निष्कर्ष—सूक्ष्मदर्शी मनु ने संसार को मार्ग दर्शा दिया है। जो पुरुष साधु है, जो दानशील, दयावान्, पर-दुःख-निवारक है, उसके पास धन रह सकता है; पर जो केवल संचयशील, स्वार्थी, व्यवहार में दंभी, कृष्ण-व्यापार[1] करनेवाला, व्यसनी, चोर, डाकू आदि है, वह असाधु है, उससे धन छीन लेना चाहिए। जिस प्रेष्य=नौकर अथवा मजदूर ने सिगरेट, शराब व जुए आदि में धन गँवाना है, उसके पास धन नहीं रहना चाहिए। जिस धनी ने विवाह आदि

1. 'कृष्ण व्यापार' शब्द का प्रयोग नारद आदि स्मृतियों में है।

के समय शराब और वेश्याओं पर, अथवा साधारण समय में जोड़ने के लिए ही धन कमाना है, उसके पास भी धन नहीं रहना चाहिए।

मनु की इस स्पष्टोक्ति की व्याख्या महाभारत, शान्तिपर्व के कई स्थानों में मिलती है।

बृहस्पति की व्याख्या—धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के महान् आचार्य बृहस्पति ने अनुपम शब्दों में इस असाधुपन का व्याख्यान किया है। देखिए—

सभा-प्रपा-देवगृह-तडागाराम-संस्कृतिः।
तथानाथ-दरिद्राणां संस्कारो योजनक्रियाः॥
पालनीयाः समर्थैस्तु यः समर्थौ विसंवदेत्।
सर्वस्वहरणं दण्डः तस्य निर्वासनं पुरात्॥

अर्थात्—सभाएँ, बड़े-बड़े भवन जिनमें अनेक साँझे काम हो सकें, प्याऊ, अग्निहोत्र के स्थान, महान् तालाब तथा उद्यान आदि बनाना अथवा टूटने-फूटने पर उनका संस्कार व मरम्मत कराना तथा च अनाथ और लंगड़े-लूले दरिद्रों को वस्त्रादि देना और उनका जीवन-निर्वाह कराना, ये काम समर्थ धनी लोगों के हैं। जो धनी इन श्रेष्ठ कर्मों को करने में आना-कानी करे, उसका सर्वस्व राजा छीन ले और उसको नगर से बाहर निकाल दे, अथवा राष्ट्र से निकाल दे।

मनु ने धन-विभाजन की तुला के पलड़े ठीक रखने के लिए मानव की उच्च प्रवृत्तियों को जगाया है और मार्क्स ने मानव की नीच-प्रवृत्तियों को उभारा है।

श्रोत्रिय परमसाधु—श्रोत्रिय वह पुरुष है, जो सदा वेदाभ्यास में लगा रहता है। जो उच्च ज्ञान का पुंज है, वह तो अकर (Tax free) है। मनु लिखता है—

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम्॥ *(7/133)*

अर्थात्—अत्यन्त कष्ट के समय भी राजा श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे।

आर्य राज्य में यह प्रथा सदा स्थिर रही है। चम्बा आदि राज्यों में ब्राह्मण की भूमि सन् 1947 तक अकरी थी।

वर्तमान में इस प्रथा के नष्ट होने से उच्च आदर्श के लोगों का अभाव-सा हो रहा है।

गो-आदर— महामना मनु परम गो-भक्त हैं। मनु ने यह भाव वेद से सीखा था। गो शब्द का वेद में—वाणी, किरण, भूमि, इन्द्रिय, गो-पशु और गो पशु के विभिन्न दूध आदि विकारों के लिए प्रयोग हुआ है। मनु के 11 / 108-116 ॥ में गो पशु के हनन हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त के प्रसंग में गो-महिमा भी वर्णित है।

गो-महिमा क्यों— जब गो एक पशु है, तो आर्यों में उसकी इतनी महिमा क्यों है? इसका उत्तर महाभारत के एक प्रसंग में है। पाठक, यह सारा जगत् अग्नीषोमीय है। सोम एक अति सूक्ष्म पदार्थ है, जो इस प्राणी-जगत् का एक आधार है। वह सोम पहले देवलोक (द्यु-लोक) में था। उसके नीचे आने का भी एक रहस्य है। सोम के आने और यहाँ भूमि के उदक के साथ मिलने से ही सारे उद्भिज संसार की उत्पत्ति हुई है। अब भी यह सोम सूर्य और चन्द्र के योग से पृथ्वी पर आता है और सारा ओषधि-वनस्पति-संसार हरा-भरा रहता है।

यही सोम गो में सबसे अधिक है। इसीलिए गो-दुग्ध, गो-घृत और गो-मूत्र तक श्रेष्ठ माने गये हैं। इसी गो-गोबर का लेपन रोगनाशक है। फलतः मानव पर महान् कल्याण करनेवाली गो उसकी माता कही गयी है। वर्तमान काल के महामूर्ख, व्यसनी लोग जो वेद में गो-हनन का वर्णन निकालते हैं, वे मानव के शत्रु और दुष्ट-भाव-भावित है।

कल्याण चाहनेवाला, अपने हीन-भाग्य का प्रायश्चित्त करनेवाला—

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः॥ *(11 / 111)*

खड़ी हुई गौओं के साथ खड़ा रहे, चलती हुई के पीछे-पीछे चले, बैठी हुई के पीछे बैठ जाये, वह अभिमान आदि को त्याग देवे।

गौ की महिमा लगभग इन्हीं शब्दों में उत्तरकालिक सब स्मृतिकारों ने की है। अंगिरा, यम आदि ने मनु के ही शब्द दोहराये हैं। शंख-लिखित ने भी कहा है—

गा रक्षेत। तास्वपीतासु न पिबेत्। न तिष्ठन्तीषूपविशेत्। न स्वयमुत्थापयेत्।[1]

हरिषेण (कालिदास) ने रघुवंश 1 / 89 में दिलीप की शिक्षा में लगभग यही शब्द वर्ते हैं।

आर्य संस्कृति—आर्य संस्कृति में गो, ब्राह्मण की महिमा अपार है। ब्राह्मण के ज्ञान पर और गो के सोमांश पर संसार का आधार है।

कर—मनु के अनुसार सुखी राष्ट्र वही है, जहाँ कर साधारण है, जहाँ श्रोत्रिय ब्राह्मण पर तो कर है ही नहीं। 9 / 304, 305॥ में मृदु कर-ग्रहण का विधान है। कर क्षत्रिय और वैश्य पर तथा शूद्र-कृषक पर लगता है। व्यापारी वैश्यवर्ग के अन्तर्गत हैं, उन पर भी कर लगता है। यदि कर अत्यधिक हो जायेंगे, तो प्रजा कभी क्रान्ति कर देगी। मनु के अभिप्राय को याज्ञवल्क्य ने अति स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

प्रजापीडनसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणाञ्चादग्ध्वा न निवर्तते॥

अर्थात्—प्रजापीड़न के सन्ताप से पैदा हुआ अग्नि राजा (राष्ट्र) के कुल, श्री और प्राणों को बिना जलाकर राख किये नहीं शान्त होता।

आज भी इस दुःख से भारतीय प्रजा ग्रस्त हो रही है। मजदूर और उच्च वेतनभोगी, तथा च ठेकेदार और कृष्ण व्यापार (कालाबाजारी) करनेवालों के अतिरिक्त सब सामान्य प्रजा अत्यन्त दुःखी हो रही है। इसका परिणाम भयावह होगा।

कर्षण और संग्रह—राजा के लिए कर्षण=शोषण अनिष्ट है। इस शोषण से राष्ट्र नष्ट हो जाता है—7 / 111-112 शोषण व्यक्तियों द्वारा भी बुरा है और राज्यों द्वारा भी बुरा है। कम्युनिस्ट सरकारें भी अपरिमित शोषण कर रही हैं। निस्सन्देह वे नष्ट हो जायेंगी।[2] त्रिकालदर्शी मनु का कथन

1. स्मृति-चन्द्रिका, आह्निक काण्ड, पृष्ठ 450 पर उद्धृत।
2. वैदिक वचनों के आधार पर 60 वर्ष पूर्व की गयी लेखक की यह भविष्यवाणी अधिकांश में सत्य हो गयी है। विशाल देश रूस और दर्जनों छोटे देशों से कम्युनिस्ट शासन नष्ट हो चुका है। मुख्य देश चीन अभी शेष है। उसके नष्ट न होने का कारण उसकी व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कर लेना है। वहाँ के कम्युनिस्ट शासन में कुछ लचीलापन आ गया है।—सम्पादक

सिद्ध होकर रहेगा। राष्ट्र का संग्रह अथवा सर्वप्रकार से रक्षण ही राजा का कर्तव्य है।

वणिक्कर—सब वणिजों पर कर समान नहीं लगेगा। मनु ने यहाँ भी एक गम्भीर नियम का आदेश किया है। वह कहता है—

क्रय-विक्रयम् अध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संवेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्॥ *(7।127)*

अर्थात्—खरीद का दर, बिक्री अथवा बेचने का भाव, माल पर मार्गव्यय, माल लाने आदि के नौकरों पर खर्च, तथा च अन्य सारे खर्च लगाकर, चोर आदि से रक्षा पर चौकीदार आदि का व्यय देखकर प्रत्येक व्यापारी पर कर लगेगा।

यहाँ पर सब एक रस्से से बाँधे नहीं गये। प्रत्येक की परिस्थिति विचारणीय रहनी चाहिए।

यह सूक्ष्म व्यवस्था मनु ने ही दी थी। आज इसका प्रायः अभाव है।

कर-समाहर्ता—करों के एकत्र करनेवाले आप्त पुरुष हों—7।80॥ आप्त लोग सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य करनेवाले होते हैं। इस कर-शुद्धि पर बड़ा बल दिया गया है। करों के ग्रहण करने में राजा आम्नाय-पर हो। वह स्वयं करमात्रा निर्धारित नहीं कर सकता। कर का अनुपात वेदादि शास्त्रों में निश्चित है।

वेतन-अनुपात—राजा के निरीक्षण में अनेक विभाग रहेंगे। घर के भृत्य से पाचक तक, ड्राफ्ट्स-मैन से सर्वोत्कृष्ट वास्तुविद् (इन्जीनियर) तक, छोटे क्लर्क से अध्यक्ष (सुपरिण्टेण्डेण्ट) अथवा सचिव तक इत्यादि के वेतन-विषय में मनु की सूक्ष्मेक्षिका का निदर्श आगे देखिए—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुकृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः॥ *(7।126)*

अर्थात्—यदि छोटे भृत्य को एक पण अथवा एक रुपया दिया जाता है, तो छह रुपया उत्कृष्ट—बड़े का वेतन होगा। साधारण भृत्यों की अवस्था में वरदी अर्थात् वस्त्र प्रति छह मास के पश्चात् देने चाहिए और धान्य का द्रोण प्रतिमास देना चाहिए।

यहाँ एक और छह का अनुपात आश्चर्यजनक है। संसार के थोड़े देशों

में, वर्तमान काल में, परम सभ्यता का यह आदर्श दृष्टिगोचर होता है।[1]

वेतनों का अधिक अन्तर दुःख-कारण—वेतनों का वर्तमान अन्तर महान् दुःखों का कारण है। समाज में अधिक भेद यहीं से उत्पन्न होता है। भारत में आज चपरासी का वेतन लगभग 50 रु. से 75 रु. मासिक है और उच्च मन्त्रियों का वेतन 30000 रु. से 50000 रु. तक पहुँचता है। यह अन्धेर आर्य-राज्य ही दूर कर सकता है।

विद्या वेश्यावत् बिकती है—वेश्या अपनी चमड़ी बेचती है और विद्यावान् अफसर अपनी बुद्धि बेचता है। इन दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। जब विद्यावान् को निश्चय हो जायेगा कि उसका ज्ञान रुपया एकत्र करने की लालसा-पूर्ति की दूर सीमा तक नहीं जायेगा, तो वह केवल रुपया कमाने के लिए ही विद्या नहीं पढ़ेगा। वह ज्ञान के लिए भी ज्ञानोपार्जन करेगा। अतः देश में यथार्थ समता उत्पन्न होगी। आज सब लोग नौकरी के लिए पढ़ते हैं। ब्राह्मणत्व का उद्देश्य ही नष्ट कर दिया गया है। अतः इस लालसा के दुःख से निवृत्ति होनी चाहिए।

काम का नियंत्रण—यूरोप की वर्तमान विचारधारा में फ्रायड का स्थान विशेष है। जिस प्रकार मार्क्स ने लोभ की विचारधारा को गुप्त प्रोत्साहन देकर मजूर को उच्छृंखल करके उसकी परम शत्रुता की है, उसी प्रकार फ्रायड ने काम का महासंशुद्ध विश्लेषण करके इसे वृथा प्रधानता दी है। मनु स्पष्ट कहता है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ *(2/2)*

अर्थात्—काम में लीन हो जाना प्रशस्त नहीं, और न इस मानव-देह में कामरहित होना ही उचित है।

गीता में—मनु के उपदेश की व्याख्या भगवान् कृष्ण ने की है। फ्रायड के कलुषित मार्ग का ज्ञान भगवान् को पहले से था। उसकी निन्दा में गीता का श्लोक है—

1. श्री होरीलाल सक्सेनाजी के अनुसार वर्तमान कम्युनिस्ट देशों में इस अनुपात को ध्यान में रखने का यत्न है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ *(16 / 12)*

अर्थात्—काम-परायण लोग अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए अन्याय से अर्थों का सञ्चय चाहते हैं।

यूरोप में फ्रायड का खण्डन पूरा नहीं हुआ। भारत की पुण्यभूमि भी संस्कृत-विद्या के अभाव में उसी गर्त में गिर रही है।

दुष्प्रकार से अर्थसञ्चय का विरोध वेद से चला था—**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**—मत लालच करो किसी के धन का। सूक्ष्म-दृष्टि से वेद ने यह भी बता दिया है कि धन का स्वामी व्यक्ति भी होता है।

काम पर पूरा नियंत्रण करके मानवयात्रा सफल होती है। काम स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। यही स्थान फ्रायड ने नहीं समझा। काम का मूल संकल्प है। इसीलिए शान्तिपर्व में काम जीतने का प्रधान उपाय बताया है—**कामं संकल्प-वर्जनात्।** काम को जीते संकल्प के वर्जन से। फ्रायड ने अधूरा अंश लेकर मिथ्या-विचार प्रचलित किया है। यह अंश मनु को ज्ञात था। मनु कहता है—

यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ *(2 / 4)*

अर्थात्—सम्पूर्ण कर्म काम की चेष्टा द्वारा है।

इस कर्मक्षेत्र को श्रुति नियन्त्रित करती है। मनु ने उसी का संकेत किया है। फ्रायड इस सूक्ष्मता से वञ्चित रहा है। इस काम-नियन्त्रण को धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में इन्द्रिय-जय कहा है। मनु इस दिशा में सबसे महान् पथ-प्रदर्शक है।

पथ-प्रदर्शक और कल्याण के मार्ग का प्रदर्शक ही सबसे बड़ा हितैषी और मित्र होता है। मनु ने यह काम असाधारण सफलता से किया है। वस्तुतः भगवान् मनु मानव का परममित्र है। मनु को त्याग कर पाश्चात्य और उसका अनुकरण करनेवाले दुःख-सागर में डूबे रहे हैं।

7

राजर्षि मनु

स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
(प्रख्यात लेखक)

भारतीय महापुरुषों में मनु का एक विशेष स्थान है। इतिहासवेत्ता उन्हें चाहे ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे की वस्तु कहें, किन्तु आज भी इस देश की सामाजिक व्यवस्था की तह में मनु द्वारा निर्धारित प्रशस्त नियम ही काम कर रहे हैं। आइए, इस लेख में आर्य संस्कृति के इस महान् व्यवस्थापक का दर्शन करें।

आर्य महाप्रजाओं के युगान्तव्यापी जीवन की स्थिर आधार-शिला का न्यास करने वाले जो अनेक महापुरुष हैं, उसमें मनु का नाम अप्रतिम तेज से प्रकाशित है। मनु प्रथम प्रजापति कहे जाते हैं। प्रजाओं के संवर्धन के लिए जिन प्रशस्त नियमों और उदार जीवन क्रम की आवश्यकता होती है, मनु का नाम आर्य संस्कृति में उन सबके लिए एक सुन्दर प्रतीक ही बन गया है। हमारे सहस्रमुखी जीवनक्रम को नियन्त्रित करने में जो श्रेय मनु को प्राप्त है, वह और किसी को नहीं। मनु कुछ स्पष्ट और निश्चित आदर्शों के प्रतिनिधि हैं। यदि हम उन आदर्शों के राजमार्ग पर अग्रसर होना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम धर्म के मनु-प्रतिपादित स्वरूप को अच्छी तरह से परीक्षा करके समझ लें।

मनु हमारे ऐतिहासिक तिथि-क्रम से परे की वस्तु हैं। मनु का नाम आते ही हमें अपनी सभ्यता के उस धुँधले प्रभात का स्मरण हो आता है, जिसमें सूर्य की उषःकालीन किरणों के प्रकाश में मानव और देव दोनों साथ-साथ विचरते हुए दिखाई देते हैं। उस युग की गाथाओं के समुदाय में से इतिहास के तथ्य और पुराण की कल्पना का विश्लेषण एक कठिन कार्य

8

राजर्षि मनु और वेद

डॉ. भवानीलाल भारतीय
(प्रसिद्ध आर्य लेखक)

आर्यों के धार्मिक और दार्शनिक शास्त्रों में वेदों को सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त है। वेदों को सर्वाधिक प्रामाणिक तथा स्वत:प्रमाण मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और अनादि काल से इस मान्यता को भारत के सभी आचार्य, दार्शनिक, सम्प्रदाय-प्रवर्तक तथा धर्मोपदेशक स्वीकार करते आये हैं।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिताओं से भिन्न ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् संज्ञक ग्रन्थों की परिगणना होती है, किन्तु वेदाधारित मनुष्यों के कर्तव्य-निर्धारण, उनकी सामाजिक व्यवस्थाओं, उनके पारिवारिक सम्बन्धों तथा उनकी राज्यव्यवस्था जैसे लौकिक विषयों पर विस्तृत चर्चा जिन ग्रन्थों में हुई, वे स्मृति ग्रन्थ कहलाते हैं। शास्त्र प्रमाण विचार में वेदों के तुरन्त बाद ही स्मृतियों की चर्चा होती है और श्रुति के पश्चात् स्मृतियों को प्रामाणिक माना जाता है। स्मृतियों में बताये गये कर्तव्यों और आचरणों को स्मार्त धर्म तथा स्मार्त कर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि स्मृति कथित कर्तव्य कर्म तभी तक स्वीकार्य होंगे, यदि ये वेदों से समर्थन या अनुमोदन प्राप्त कर सकेंगे। स्मृतियों का वेदानुमोदित होना अनिवार्य माना गया है।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। *(2/13)*

इस मनु-वाक्य की व्याख्या करते हुए कुल्लूक ने स्पष्ट लिखा है— ''धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुति: प्रकरणबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भाव:।'' अतएव जाबाल कहते हैं—

श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा

अर्थात्—धर्म को जाननेवालों के लिए श्रेष्ठ प्रमाण तो वेद ही है। जहाँ श्रुति और स्मृति का विरोध प्रतीत हो, वहाँ स्मृति के अर्थ को स्वीकार नहीं किया जाता। किन्तु जहाँ अविरोध हो, वहाँ स्मृति कर्मों को भी श्रोत कर्तव्यों की भाँति पालना चाहिए। इसी प्रसंग में कुल्लूक ने भविष्यपुराण तथा जैमिनि कृत मीमांसा दर्शन को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रुति के विरुद्ध होने पर स्मृति के वाक्य अनपेक्ष्य (अनावश्यक) अप्रमाण तथा अनादरणीय हो जाते हैं—

श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्।

श्रुति और स्मृति के इस प्रकार प्रमाण क्रम को महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में एक उपमा द्वारा स्पष्ट किया। सम्राट् दिलीप नन्दिनी गाय के पीछे-पीछे इस प्रकार चलते हैं जैसे स्मृतियाँ श्रुति का अनुगमन करती हैं।[1]

यों तो स्मृति ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। प्राय: 28 स्मृतियों में राजर्षि मनु रचित मनुस्मृति का ही सर्वाधिक आदर है। यही स्मृति सर्वमान्य, सर्वस्वीकार्य तथा निखिल आर्य मतावलम्बियों के लिए आदर की पात्र है। कुल्लूक भट्ट ने अपनी टीका के आरम्भ में मनुस्मृति के महत्व के द्योतक अनेक शास्त्रवाक्यों को उद्धृत किया है। प्रथम छान्दोग्यब्राह्मण का प्रमाण देते हैं—

मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः।

अर्थात्—मनु ने जो कुछ कहा वह औषधियों का भी परमौषध है। आगे उन्होंने बृहस्पति नामक एक अन्य आचार्य को उद्धृत किया—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोःस्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

वेदार्थ को ही निरूपित करने के कारण मनुस्मृति को स्मार्त साहित्य में प्रधानता प्राप्त है। जो अन्य स्मृतियाँ मनु के विपरीत हैं वे प्रशंसा की पात्र

1. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघुवंश

9

मनु की वेदों के प्रति आस्था

डॉ० कृष्णलाल
(वैदिक विद्वान्)

मनु ने वेद को प्रमुख प्रमाण माना है। उसकी सभी मान्यताएँ वेद पर आधारित हैं। मनु के निर्देशों के मूल में जाने के लिए, उन्हें सम्यक्तया समझने के लिए वेद का ज्ञान होना आवश्यक है। मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर वेद की इस प्रामाणिकता को स्वीकार ही नहीं किया गया अपितु उसे प्रतिष्ठापित भी किया गया है। यही कारण है कि वर्तमान युग में वेदों के महत्व को समस्त समाज के लिए प्रतिपादित करनेवाले महर्षि दयानन्द ने लोक-व्यवहार, शिक्षा, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, राजनीति आदि के लिए मनुस्मृति को आधार बनाया। मनुस्मृति के भी जो अंश वेद-विरुद्ध हैं, उन्हें उन्होंने प्रक्षिप्त मानकर त्याज्य तथा अनुकरणीय घोषित किया है।

मनु अत्यन्त विनम्रतापूर्वक घोषणा करते हैं कि ''इस स्मृति में मनु ने जिस किसी के जिस किसी धर्म या कर्तव्य का विधान किया है, वह सब पहले से वेद में विहित है, क्योंकि वेद तो सब ज्ञान का भण्डार है।''

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥[1] *(मनु० 2/7)*

एक अन्य स्थल पर सम्पूर्ण वेद को ही धर्म का मूल आधार बताया गया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[2] *(मनु० 2/6)*

1. बहुत-से विद्वान् मनुप्रोक्त न मानते हुए इस श्लोक को प्रक्षिप्त बताते हैं।
2. प्रो० सुरेन्द्रकुमार, विशुद्ध मनुस्मृति (वि०म०) 1/125

10

मनु की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र

डॉ० कृष्णवल्लभ पालीवाल
(समीक्षक)

गत दो सौ वर्षों में भारत के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में यदि सबसे अधिक चर्चा किसी ग्रन्थ की हुई है तो वह है मनु की 'मनुस्मृति', जिसका हिन्दू धर्मशास्त्रों में वेद के बाद सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह—ग्रन्थ समग्र मानव—धर्म को व्यक्त करता है, तथा वैदिक वाङ्मय का सार और वैदिक (हिन्दू) विधि-विधान है। दूसरे, जहाँ प्राच्य विद्या के निष्पक्ष जिज्ञासु हजारों वर्षों पूर्व की धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को इससे समझना चाहते हैं तथा, श्रद्धालु हिन्दू इसमें अपने कर्तव्यों-अकर्तव्यों का मार्ग ढूँढ़ते हैं, वहीं दूसरी ओर हिन्दू धर्मशास्त्रों के आलोचक, वैदिक परम्पराओं से अनभिज्ञ, पूर्वाग्रहों से ग्रसित, कतिपय बिखरे सूत्रों के आधार पर मनुस्मृति को ब्राह्मणवादी तथा शूद्र एवं स्त्री-विरोधी होने का आरोप लगाते हैं।

ब्रिटिश राज्यकाल में ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के लिए हिन्दू धर्मशास्त्रों की आलोचना करना तो समझ में आता है, परन्तु आज स्वतन्त्र भारत में, मनुस्मृति के यथार्थ स्वरूप को समझे बिना, उसके आधार पर जातिभेद का ज़हर घोलना कहाँ तक उचित है? जबकि सच्चाई यह है कि आज भी धर्म की स्वतन्त्रता (संविधान अनु० 25) की आड़ में विश्व-चर्च और पैन-इस्लामिक द्वारा समर्थित लगभग दस हजार धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन अंग्रेजों की भारत-विभाजन नीति पर कार्य कर रहे हैं और हिन्दुओं को 'मनुस्मृति' के आधार पर मनुवादी, ब्राह्मणवादी

आदि की मोहर लगाकर समाज में वर्गभेद और जातिद्वेष के ज़हर का बीज बो रहे हैं।

राजर्षि मनु और उनकी 'मनुस्मृति' पर आरोप लगाने और उनके प्रति आक्रोश एवं विरोध प्रकट करने से पहले मनु के चिन्तन, उनकी मानसिकता, 'मनुस्मृति' के आधार, उद्देश्य और उसके सात्त्विक स्वरूप को समझना होगा। साथ ही, यह भी समझना होगा कि अति प्राचीनकाल की धार्मिक मान्यताएँ, सामाजिक परम्पराएँ एवं राजनैतिक व्यवस्थाएँ आज व्यवहार में अपने मौलिक स्वरूप में कितनी रह गयी हैं। उनकी परिभाषाएँ कितनी बदल गयी हैं। अनेक नये पन्थों के उदय से उनकी प्रासंगिकता एवं व्यावहारिकता कितनी उपयोगी रह गयी है और यह भी विचार करना होगा कि मनु तत्कालीन समाज-व्यवस्था की रचना की ओर संकेत कर रहे हैं। साथ ही, क्या वर्तमान में प्राप्य 'मनुस्मृति' वास्तव में मनु की मूल 'मनुस्मृति' है? और यदि उसमें मिलावट है तो क्या, कितनी, किन-किन विषयों पर और किस काल में की गयी है?

प्राचीनकाल की वैदिक वाङ्मय से जुड़ी 'मनुस्मृति' का आज उसे एकांगी रूप में देखना पूर्वाग्रहों से ग्रसित ही माना जायेगा। अत: आज 'मनुस्मृति' के यथार्थ स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए हमें प्राचीन एवं अर्वाचीन की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को समझना होगा। लेकिन उपर्युक्त सभी विषयों का तो एक लेख में विवेचन असम्भव होने एवं जाति-भेद की बढ़ती हुई समस्या के कारण हम यहाँ मनु की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र विषय तक ही सीमित रहेंगे।

मनुस्मृति का आधार—मनु-रचित स्मृति को मनुस्मृति, मनुसंहिता एवं मानव-धर्मशास्त्र आदि कई नामों से कहा गया है। निस्सन्देह मनुस्मृति मुख्यतया एक विधि-विधानात्मक शास्त्र है। फिर भी इसमें एक ओर वर्णाश्रम धर्म, व्यक्ति एवं समाज-हितकारी नियमों, नैतिक कर्तव्यों, मर्यादाओं, आचरणों एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है, तो दूसरी ओर इसमें समाज-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए विधि-विधानों, दण्डों, प्रायश्चित्तों आदि का भी समावेश है। विधि-विधान की दृष्टि से, वैदिक वाङ्मय में यह ग्रन्थ अति प्राचीन, सर्वोत्कृष्ट, सर्वमान्य एवं अत्यन्त

प्रामाणिक है। इसमें व्यक्ति और समाज की प्राचीन काल से आ रही मानवीय समस्याओं का विवेचन आधुनिक समाजविज्ञान की दृष्टि से भी सुन्दर, विचारोत्तेजक एवं प्रेरणादायक है।

आचार्य मनु का समस्त चिन्तन, मनन, मान्यताएँ एवं विधि-विधानों का आधार अपौरुषेय वेद हैं। वे स्वयं कहते हैं कि **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (2/6) यानी मानव-धर्म-सम्बन्धी सभी मान्यताओं, व्यवहारों एवं आदर्शों का आधार वेद हैं। इतना ही नहीं, **''धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः''** (2/13) यानी मानव-धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं के लिए वेद एवं वेदानुकूल ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं। उन्हीं से धर्म-अधर्म का निर्णय होता है। उनकी दृष्टि में मानवमात्र के लिए वेद ही सनातन चक्षु हैं—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं वेदशास्त्रमितिस्थितिः॥ *(2/14)*

अर्थात् ''पिता, संरक्षक, पालक विद्वानों एवं मनुष्यों का वेद ही सदा सनातन चक्षु या मार्गदर्शक हैं, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, एवं अनन्त सत्यविद्याओं से युक्त हैं, ऐसा मेरा विचार है।'' इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि ''वेद ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। लोगों को अपने-अपने कर्तव्य का अपने-अपने धर्म में स्थिर रहते हुए पालन करना चाहिए।''

श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ *(1/127)*

मनु की मान्यता है कि वेदों के द्वारा ही मनुष्य को संसार की वस्तुओं व धर्मों का प्रथम ज्ञान होता है (1/21), क्योंकि चारों वेद धर्म के प्रथम मूल स्रोत हैं और इनका कुतर्क आदि का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए (1/129-130)।

अतः मनु का मनन, चिन्तन एवं विषय-प्रस्तुति वैदिक मान्यताओं के ही अनुकूल हैं और जो कुछ भी आज 'मनुस्मृति' में वेदविरुद्ध है वह मनु की अवधारणाओं के प्रतिकूल होने के कारण अमान्य है, त्याज्य है, वह हिन्दू धर्म का अंग नहीं है।

मनुस्मृति की प्रामाणिकता—वैदिक वाङ्मय में सभी ऋषियों ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान एवं प्रामाणिक धर्मग्रन्थ माना है। वेदशास्त्र का कारण

ईश्वर है (शास्त्रयोनित्वाद् वेदा० 1/1/3)। ईश्वर ने अपनी शक्ति से वेद प्रकट किये (सांख्य० 5/51)। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए उसकी प्रामाणिकता सबसे ऊपर है (वैशेषिक 11/3)।

स्मृतियों के विषय में जैमिनि कहते हैं कि वे तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक वे वेदानुकूल हैं **(विरोधत्वेन प्रेक्ष्यस्यादसति ह्यनुमानम्)** (मीमांसा 2/3/3)। ताण्डय ब्राह्मण (3/16/6/7) के अनुसार "मनु का वचन सर्वोपरि एवं ओषधि के समान है" **(यद्वै मनुर्वै, यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम् भेषजतायै)**। आचार्य बृहस्पति कहते हैं कि जब स्मृतियों में विरोध हो तो 'मनुस्मृति' को मानना चाहिए और यह तभी जब 'मनुस्मृति' वेदानुकूल हो, मगर वेदप्रतिकूल होने पर नहीं—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्त्रार्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शक्यते॥ *(बृहस्पति स्मृति)*

जाबाल ऋषि के अनुसार "स्मृति और वेद में विरोध हो तो वेद को प्रधानता देनी चाहिए।" (**श्रुति स्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी**—जाबाल स्मृति)

इसके अलावा आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-सूत्र में एवं विश्वरूप ने 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में 'मनुस्मृति' को प्रामाणिक माना है तथा आचार्य गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, बोधायन आदि के सूत्र-ग्रन्थों में 'मनुस्मृति' का आदर से उल्लेख है। प्राचीन विद्वानों के अलावा आधुनिक युग के विदेशी एवं भारतीय विद्वानों जैसे एफ० नीत्शे, एच०पी० ब्लावट्स्की, मॉरिस मैटरलिंक, डॉ० ऐनी बेसेन्ट, पी०डी० औसपेंस्की, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ० एस० राधाकृष्णन, डॉ० भगवानदास, श्री अरविन्द आदि ने मनु को भारतीय चिन्तन का आधार माना है। नीत्शे ने तो यहाँ तक कहा है—"बाइबल को बन्द करो और मनु-शास्त्र को उठाओ।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुस्मृति का आधार एकमात्र वेद एवं वेदानुकूल मान्यताएँ हैं और वर्तमान 'मनुस्मृति' में जो कुछ भी वेदविरुद्ध मिलता है उसका मनु की मूल रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। फलस्वरूप किसी भी वेदविरुद्ध कथन का सिर्फ वर्तमान 'मनुस्मृति' में होने

के कारण मनु का विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि उसके लिए मनु उत्तरदायी नहीं है।

मनु की समाज-व्यवस्था का आधार—मनु और मनुस्मृति पर जातिभेद एवं ब्राह्मणवाद का आरोप लगाना निराधार है, क्योंकि मनु द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था वही है जिसका वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, महाभारत, गीता आदि धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है। मनु की समाज-व्यवस्था पूर्णतया व्यक्ति के गुण-कर्म-स्वभावानुसार है जिसे 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' कहा गया है। वह आज की व्यक्ति के माँ-बाप की जाति के आधार पर 'जन्मना जाति-व्यवस्था' नहीं है। मनु ने जन्मना जाति-व्यवस्था का कहीं भी किसी प्रकार उल्लेख नहीं किया है। मनु की 'कर्मणा व्यवस्था' का मूल सिद्धान्त है—व्यक्ति का उसके गुण-कर्म-स्वभाव एवं रुचियों के अनुसार उसका सर्वांगीण विकास करने के अवसर प्रदान करना, उसकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने की प्रेरणा देना और जैसे-जैसे व्यक्ति की आवश्यकता अथवा उसकी रुचियों में परिवर्तन आये, उसे उन्हीं के अनुसार उन्नति के सभी अवसर प्रदान करना। मनु की वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति को धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में जकड़नेवाली तथा स्थायी नहीं है। हाँ, वह स्वयं चुने हुए वर्ण के धर्म का पालन करने का आग्रह अवश्य करती है। संक्षेप में, मनु की वर्णव्यवस्था प्रेरणादायिनी, विकासशील, परिवर्तनशील, व्यक्तिवादी और सामाजिक समरसता-कारक है। मनु की 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' को समझने के लिए हमें वर्ण और जाति के मूल स्वरूपों एवं परिभाषाओं को समझना होगा।

वर्ण—यह शब्द वेदों में अनेक बार आया है और अकेले ऋग्वेद के चौबीस मन्त्रों में है जिसका प्रसंगानुसार अर्थ है—रंग, रूप, अनिष्ट-निवारक, रश्मि, वर्णन-योग्य, कान्ति, प्रकाश, वरण करने योग्य, ब्राह्मणादि चारों वर्ण आदि। मगर समाज-व्यवस्था की दृष्टि से वर्ण शब्द स्वयं इसे कर्म-आधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरुक्त के **वर्णो वृणोते** (2/14) सूत्र के अनुसार "वर्ण वह है जिसका गुण-कर्मानुसार वरण किया जाये।" स्वामी दयानन्द ने इसकी व्याख्या में कहा—"जिसके जैसे गुण हों उसको वैसा ही अधिकार देना वर्ण है" (ऋग्वेदादि भा०भू०)। अतः जब

कोई मनुष्य अपने गुण, कर्म, रुचि एवं योग्यतानुसार शिक्षा प्राप्त करता है और तदनुसार जीविका चुनता है या वरण करता है, तो वह उसका वर्ण कहलाता है। किसी के वर्ण का उसके माता-पिता के वर्ण के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। वह हो भी सकता है, और नहीं भी। वर्ण का निर्णय आचार्य करता है जो शिक्षाकाल में विद्यार्थी के गुण-कर्म-स्वभाव एवं अभिरुचियों को भलीभाँति जानता है।

जाति— गौतम ऋषि के अनुसार 'समान प्रसवात्मिका जातिः' (न्याय दर्शन 2/2/70) अर्थात् 'जिनके जन्म लेने की विधि एवं प्रसव एक-समान हों वे सब एक जाति के हैं।' समान प्रसव का भाव है— जिसके संयोग से वंश चलता हो व जिन प्राणियों का प्रसव-विधि, आयु और भोग एक-समान हों। जाति का दूसरा लक्षण है—आकृति, यानी जिन प्राणियों की आकृति एक-समान हो, वे एक जाति के हैं **(आकृति जाति लिंगः)**। इस परिभाषा से मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि विभिन्न जातियाँ हैं। परन्तु विश्व के सभी मानवों की आकृति एक ही है, अतएव वे एक ही जाति, मनुष्य-जाति के हैं (उत्तर पुराण), भले ही जलवायु, स्थान आदि के कारण मनुष्यों के रंग, लम्बाई आदि में मामूली अन्तर के कारण कुछ विभिन्नता दिखाई दे। आचार्य कपिल ने भी यही कहा है—**'मानुष्यश्चैकविधिः'** (सांख्य० 5/7) यानी संसार के मनुष्यों की एक ही जाति है। आज का वैज्ञानिक जगत् एवं विद्वान् भी (आचार्य महाप्रज्ञ—जैन दर्शन, पृ० 85) मानवमात्र को एक ही जाति का मानता है। फिर एक मनुष्य-जाति में से ब्राह्मण, बनिया, नाई, धोबी, जातियाँ कहाँ से और कैसे आईं?

भारतीय धर्मशास्त्रों ने इन्हें जातियाँ नहीं माना है। इतना जरूर है कि जिन लोगों के जीविका-साधन, जीवनचर्या एवं संस्कृति एक-सी हैं, वे ऊपर से एक-समान जीवन-पद्धति के कारण एक अध्यारोपित जाति है, जो कि जीविका-साधन व शिक्षा के अनुसार बदलती रहती है। आज जो ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण और वैश्य का वैश्य कहलाता है, यह जन्मना जाति-व्यवस्था है। इसकी धर्मशास्त्रों में कहीं स्वीकृति नहीं है। यह एक सामाजिक बुराई है और मनु की 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' से ठीक विपरीत है। हालाँकि मनुस्मृति में जाति शब्द कई जगह आया है परन्तु उसका अर्थ

है 'जन्म'। जैसे—**जाति अन्धबधिरौ** (1/201) 'जन्म से अन्धे-बहरे'। **जाति स्मरति पौर्विकीम्** (4/148) 'पूर्वजन्म को स्मरण करता है।' **द्विजातिः** एवं **एक जातिः** (10/4) 'एक ही जन्म तथा जिसका दूसरा विद्याजन्म नहीं होता—शूद्र''। वस्तुतः 'मनुस्मृति' में जाति शब्द कहीं भी वर्तमान 'जन्मना जाति-व्यवस्था' के लिए नहीं कहा गया है। वैसे भी हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार वर्ण और जन्मना जाति शब्द एक-समान नहीं हैं और न वैदिक वाङ्मय में कहीं भी ये समानार्थक समझे गये हैं। साथ ही, यह कहना भी मुशिकल है कि प्राचीन कर्मणा वर्ण-व्यवस्था, पहले जन्मना वर्ण-व्यवस्था में और कालान्तर में रूढ़िवादी जन्मना जाति-व्यवस्था में कब और कैसे बदल गयी जो पूर्णतया अवैदिक, अनुचित और आत्मघाती है। मनु इसका कहीं भी उल्लेख या समर्थन नहीं करते।

मनु की वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति—मनु ने स्पष्टता गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि चार ही वर्णों को माना है, पाँचवाँ नहीं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्र नास्ति तु पञ्चमः॥ *(10/4)*

जो कि वेदों के निम्नलिखित मन्त्रों पर आधारित है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्० 10/90/12, यजु० 31/11)

कुछ लोग (महाप्रज्ञ—जैन दर्शन, पृ० 481) इन मन्त्रों को जन्मना जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत मनाते हैं, जो कि ठीक नहीं है। परन्तु साथ ही आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि श्रमण-परम्परा के अनुसार ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुकूल होते हैं।'' वस्तुतः वेदों के अनुसार ये चार प्रकार की मुख्य मूल प्रवृत्तियाँ, कर्म और जीविका के साधन हैं मनुष्यमात्र के—

कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिहो होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

(उत्तरज्ज्ञयणाणि 33/28)

जैन शास्त्र का उपर्युक्त कथन मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल है।

वस्तुतः वेदों की वर्ण-व्यवस्था सृष्टिप्रधान सिद्धि है। इस विषय में ऋग्वेद (10/90/11) में प्रश्न किया गया है कि परम ब्रह्मरूपी पुरुष कैसा है? इसके उत्तर में उपर्युक्त मन्त्र (ऋग्० 10/90/12) में कहा गया है कि "वेदादि शास्त्रों एवं ईश्वर को जाननेवाला मनुष्य ब्राह्मण रूप में इस पुरुष का मुख है, बल-पराक्रमगुण-युक्त मनुष्य क्षत्रियरूप में इस पुरुष की बाँहें हैं, खेती, व्यापार आदि करनेवाला वैश्य-समुदाय इसका मध्य भाग है, और श्रम आदि करने वाला मनुष्य-समाज शूद्ररूप में इस विराट् पुरुष का पैर है। यहाँ परम ब्रह्म परमेश्वर की शक्तियों का आलंकारिक वर्णन है। समाजरूपी शरीर की सर्वांगीण उन्नति के लिए उत्तम शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति एवं तकनीकी विकास करनेवाले विद्वानों या ब्राह्मणों को मुख-रूप में, राष्ट्र की रक्षा व न्यायपूर्वक प्रशासन करनेवाले संयमी, मानसिक एवं शारीरिक दृढ़तावाले वीर पुरुषों को बाहूरूप में, उद्योग-धन्धों व व्यापार करनेवाले वैश्यों को मध्यमरूप में और उत्पादन करनेवाले कुशल एवं अर्धकुशल श्रमिकों को पैर अर्थात् आधार के रूप में वर्णित किया गया है। यह मनुष्य की वृत्ति एवं योग्यतानुसार कर्म का विभाजन है। सृष्टि-रचना का ऐसा ही आलंकारिक वर्णन शतपथ ब्राह्मण (2/1/4/12-13), महाभारत (आदिपर्व अ० 65, 66, 75, शान्तिपर्व अ० 208), वाल्मीकिरामायण (अयो० 110/3-6, अरण्य० 14), मनुस्मृति (1/8-15, 24-25, 32-41), भागवत (3/12-4-5) और विष्णु पुराण (अ० 17) में किया गया है।"

मनुस्मृति 1/31 में भी गुण-कर्मानुसार चारों वर्णों की उत्पत्ति का ऐसा ही वर्णन है—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

कुछ लोग शूद्र की उत्पत्ति 'ब्रह्मा के पैर से' कहकर उसे हेय दृष्टि से देखने का आरोप मनु पर लगाते हैं, जबकि समाजरूपी शरीर में पैर भी सिर, बाहू, छाती, पेट आदि की तरह उतना ही उपयोगी और सारे शरीर का

आधार है। दूसरे, शूद्र तपस्या का प्रतीक है (तपसे शूद्रम्, यजु० 30/5)। जैसे पैर के बिना शरीर स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार श्रम-बिना ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य आदि का कोई प्रयास सम्पन्न नहीं हो सकता। शूद्र श्रम या पारस्परिक सहयोग द्वारा तीनों वर्णों का पूरक है। आदि शंकराचार्य ने बृहदा० उपनिषद् (3/1/4/13) की व्याख्या में शूद्र को सबका पोषण करनेवाला पूषण या पृथिवी देवता कहा है। जैसे पृथिवी सब प्राणियों का आधार है, वैसे ही शूद्र सब वर्णों को समान और पारस्परिक प्रेम का प्रतीक माना है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ *(यजु० 18/48)*

महाभारत (1/60/5) के अनुसार एक वर्ण के ही मनुष्य कर्म के आधार पर चार वर्गों में बाँटे गये हैं—

क्रिया कर्म विभेदेन चातुर्वर्ण्यम् प्रतिष्ठितम्।

गीता भी यही कहती है कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि चारों वर्ण गुण-कर्म-स्वभावानुसार किये गये हैं"—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः। *(4/13)*

वर्णों में पारस्परिक कोई विशेषता या भेद नहीं है—**न विशेषोऽस्ति वर्णानाम्**—(महाभारत, शान्तिपर्व 188/10) यानी सब वर्ण समान हैं। अतः शूद्र वर्ण हेय नहीं है। वह तो परिश्रम, तपस्या, उद्योग, पौरुष और समृद्धि का आधार है। अतः मनु की वर्ण-व्यवस्था तथा कर्म का विभाजन, गुण-कर्म-स्वभावानुसार होने से अत्यन्त वैज्ञानिक, सहयोगात्मक, विकासशील, प्रेरणादायक और समाज की आवश्यकतानुसार है।

वर्णों के लक्षण : मनु की वर्ण-व्यवस्था, वर्णों के लक्षण और उनके कर्तव्यों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। अष्टाध्यायी (4/2/59) के अनुसार "वेदज्ञान के अध्ययन और परमेश्वर की उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है।" "जिसका तप, शौच, दम, शम, ज्ञान-विज्ञानादि बल निष्कलंक है, वह ब्राह्मण है" (ऋ० 7/56/8)। "जो ब्राह्मण वर्ण वाले मनुष्य चित्तवृत्ति से सूक्ष्म विषयों का विचार करते हैं, मन की चंचलता से

बचकर संयम, इन्द्रियनिग्रह कर समदृष्टि से अपनी जीविका चलाते हैं तथा बुद्धि-तर्क द्वारा ज्ञान का प्रचार करते हैं, ब्राह्मण हैं'' (ऋग्० 10/71/8)। ''जो यज्ञकर्त्ता, सत्यव्रती तथा वेदादिशास्त्रों का चिन्तन, मनन व गायन करता है, ब्राह्मण है।'' '**आग्नेयो ब्राह्मणः**' (ता० 15/4/8), **व्रतस्य रूपं यत्सत्यं,** शत० 12/8/2/4, **गायत्रो वै ब्राह्मणः,** ऐत० 1/28)। ''जिस व्यक्ति में सत्य, दान, क्षमाशीलता, मानवता, तप और धैर्य है, वही ब्राह्मण है।'' (महाभारत, वन० 180-21)—

सत्यं दानं क्षमाशीलं मानुषस्य तपो धृतिः।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र, स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

पुनः गीता (18/42) के अनुसार ''जिस मनुष्य में शम, इन्द्रिय-दमन, पवित्रता, शान्ति, धर्म में दृढ़ता, कोमलता, निरभिमान, ज्ञान-विज्ञान में रुचि एवं ईश्वर-विश्वास है, वही ब्राह्मण है।''

भगवान् बुद्ध ने भी सज्जन, सदाचारी, क्षमाशील और तपस्वी व्यक्ति को ब्राह्मण माना है—'ब्राह्मणी के जन्म से व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं' तथा 'तप, ब्रह्मचर्य, संयम, शम, दम, सत्य आदि से व्यक्ति ब्राह्मण बनता है' (भिक्षु धर्मरहित, जातिभेद और बुद्ध, पृ० 6)

मनु के अनुसार शास्त्रादि पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना ब्राह्मण-कर्म है और विद्या देना, यज्ञादि शुभ कर्म करवाना और दान लेना जीविका के साधन हैं। (1/88)। यही बात महाभारत (शान्ति० 17/78) में कही गयी है कि ''ब्राह्मण के लिए स्वाभाविक कर्म ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति एवं प्रचार करना तथा समाज की ज्ञान द्वारा समृद्धि करना है।''

वेद के अनुसार ''बलशाली, यज्ञकर्त्ता, तेजस्वी वे दिव्यगुण-युक्त व्यक्ति क्षत्रिय है'' (ऋग्० 10/66-8)। ''प्रजा का रक्षक, योद्धा, पराक्रमी व दान देनेवाला क्षत्रिय है'' (महाभारत, शान्ति० 189/5)। उसका मुख्य कर्तव्य ''राज्य-व्यवस्था व प्रजा की रक्षा करना है'' (गीता० 18/43) ''जो वेदाध्ययन से युक्त, कृषि, पशुपालन तथा अन्य व्यापार करते हैं, वैश्य हैं।'' (यजु० 9/40)। ''दान देना एवं सब प्रकार के व्यापार-कार्य करना वैश्य के लक्षण हैं'' (मनु० 1/90)।

इसी प्रकार गुण-कर्म-स्वभावानुसार शूद्र वह होता है जो प्रयास करने

पर भी अपनी मन्दबुद्धि व अज्ञानता के कारण किसी उन्नत स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता और अपनी उन्नति की चिन्ता में दुःखी बना रहता है। वेदान्त (1/3/34) के अनुसार "जो शोक के पीछे दौड़ता है, वह शूद्र है।" डॉ० सूर्यकान्त के अनुसार "जो मन्दबुद्धि शारीरिक परिश्रम से आजीविका-भोगी है, शूद्र है।" ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार '**असतो वा एष सम्भूतो यत्र शूद**' तै० 3/23/9, **तपो वै शूद्रः** शत० 3/6/2/10) "अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न स्थिति रह जाती है, जो केवल परिश्रम आदि कर्म से जीविका कमाते हैं, शूद्र हैं।"

महाभारत (शान्ति० 189/8) के अनुसार "जो सर्वभक्षी, सर्वकर्म-परायण, वेदज्ञान-रहित, अनाचारी और अपवित्र हैं वही शूद्र हैं।" पुनः "ब्राह्मण होते हुए भी यदि हिंसक, मिथ्यावादी, लोभी, सर्वकर्मोपजीवी और अशुद्ध रहे, तो वह शूद्र है।" (महाभारत 181/13)

यही बात मनु कहते हैं कि "वेदादि शास्त्रों को न पढ़नेवाला ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है" (मनु० 2/168), यानी ज्ञान और शिक्षा का अभाव ही शूद्रत्व का लक्षण है।

केवल मोटवानी के अनुसार "मनोवैज्ञानिक रूप में शूद्र के लक्षणों को परिभाषित नहीं किया गया है, क्योंकि वह अपनी मानसिकता को स्थिर कर अपने जीवन के लक्ष्य एवं आकांक्षाओं को समग्र रूप में निश्चित नहीं कर पाता है। वह अपनी मानसिक अस्थिरता के कारण परिस्थितियों के दबाव में बहक जाता है।" इस अनिश्चितता के कारण शूद्र को अबोध बालक के समान माना गया है—"**जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते**" (स्कन्द पु०) इसीलिए मनु ने उसे "एक जातिः" यानी एक जाति वाला शूद्र कहा है (**एक जातिस्तु शूद्रः,** मनु० 10/4) जबकि अन्य तीनों वर्णों के व्यक्तियों की वृत्तियाँ, कर्म और आकांक्षाएँ सुनिश्चित होने के कारण उन्हें द्विजाति या द्विज कहा गया है (मानव धर्मशास्त्र पृ० 53)। गीता (18/44) में 'परिश्रम द्वारा समाज की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।" **(परिचर्यात्मकं कर्मं शूद्रस्यादि स्वभावजम्)** यानी परिश्रम करना शूद्र का ही नहीं, अन्य वर्णों का भी स्वाभाविक कर्म है।

इसके अतिरिक्त सुप्रशिक्षित एवं अर्द्ध-प्रशिक्षित कारीगर श्रम-शक्ति के

प्रतीक हैं। जिन लोगों को शास्त्रज्ञान नहीं है परन्तु प्रशिक्षण, परिश्रम और अभ्यास से जिन्होंने किसी भी शिल्पकार्य में विशेषता प्राप्त कर ली है, वे शूद्र हैं। इसीलिए मनु कहते हैं कि ''कारीगरी के कार्य से शूद्र अपनी जीविका चला ले'' (**कारुक-कर्मभि जीवेत्,** 10/99) 'विविध प्रकार के शिल्पकार्यों को शूद्र करे'। (**तानि कारुक कर्माणि शिल्पानि विविधानि च,** 10/100) और ''शिल्पी और कारीगर शूद्रों से काम करवा लेना चाहिए'' (**कर्मोपकरणः शूद्राः कारवः शिल्पनस्तथा,** 10/120) अतः मनु के अनुसार कारीगरी के परिश्रम से जीविका-भोगी शूद्र है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान व टैक्नॉलॉजी में, उद्योग-धन्धों में, सैन्य शक्ति में एवं विभिन्न वर्णों के प्रमुख आयोजनों में सहयोग देना शूद्र का स्वाभिमानपूर्ण श्रेष्ठ योगदान है। यह कोई हेय कार्य नहीं है। अपने समाज एवं देश की प्रगति के लिए किसी भी प्रकार का सहयोग राष्ट्रभक्ति का प्रतीक है। वस्तुतः ब्राह्मणों एवं विद्वानों के मानवकल्याण-कार्यों—यज्ञों में, क्षत्रियों के रक्षाकार्यों में और वैश्यों के उद्योग-धन्धों में सहयोग देना—द्विज-कार्यों में सेवा के ही समान है। समाज के विभिन्न घटकों की अपनी-अपनी वृत्तियों एवं योग्यताओं के मनसा-वाचा-कर्मणा सहयोग से ही किसी समाज व राष्ट्र की उन्नति होती है। यह तो सभी वर्णों की योग्यतानुसार सामूहिक योगदान की प्रक्रिया है।

अतः मनु की एक जाति शूद्र, द्विज एवं चारों वर्णों के लक्षण व्यक्ति के गुण-कर्म-स्वभाव एवं वृत्तियों के अनुसार हैं जो व्यक्तिगत विकास और सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने के आधार पर हैं जिससे व्यक्ति एवं समाज की आर्थिक समृद्धि तथा दोनों का सर्वोच्च विकास हो सके। इनमें किसी वर्ण का जन्मना जाति-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि वर्ण-व्यवस्था जन्मना जाति-व्यवस्था के बिलकुल विपरीत है। मनु की वर्ण-व्यवस्था प्रगतिशील, विकासवादी, रचनात्मक, समयानुकूल परिवर्तनशील और व्यावहारिक है।

वर्ण-परिवर्तन का अधिकार—इतना ही नहीं, जन्मना जाति-व्यवस्था के समान, व्यक्ति का वर्ण स्थायी नहीं होता, परन्तु व्यक्ति की उन्नति व अवनति के साथ बदलता रहता है। मनु कहते हैं कि ''शूद्र मनुष्य शुभ कर्मों द्वारा ब्राह्मण, और ब्राह्मण दुष्कर्मों से शूद्र हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय

व वैश्य के विषय में जानो'' यानी ये भी अपना कर्तव्य पालन न करने पर शूद्र हो जाते हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ *(मनु० 10/65)*

पुनः मनु कहते हैं कि ''जो मनुष्य प्रातः और सायं-सन्ध्योपासना, स्वाध्याय एवं ज्ञान-चिन्तन नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझकर समस्त द्विज-कुल से बहिष्कार कर शूद्र-कुल में रख देना चाहिए''—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विकर्मणः॥ *(2/103)*

इसी प्रकार ''जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीवित ही अपने वंशसहित शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।''

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ *(2/168)*

यही बात आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2/5/10/11) में कही है कि ''धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण भी उत्तम हो जाता है और धर्मविरुद्ध आचरण से उत्कृष्ट वर्ण भी शूद्र हो जाता है।'' तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र 13/31 के अनुसार ''वेदज्ञान-रहित, उपदेश देने में असमर्थ और यज्ञ न करनेवाला ब्राह्मण शूद्र हो जाता है।''

ब्राह्मण और शूद्र के गुणात्मक भेद को महाभारत और पुराणों में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है जैसे कि ''ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना, संस्कार, वेदश्रवण एवं ब्राह्मण पिता की सन्तान होना, ये ब्राह्मणत्व के कारण नहीं हैं, बल्कि सदाचारी और संयमी शूद्र व्यक्ति भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है'' (महाभारत अनु० 143/5)।

''हे युधिष्ठिर! कोई मनुष्य कुल, जाति और क्रिया के कारण ब्राह्मण नहीं हो सकता। यदि चाण्डाल भी सदाचारी व संयमी है तो वह भी ब्राह्मण होता है'' (महाभारत अनु० 226/14)। ''जो ब्राह्मण दम्भी, पापी व दुष्कर्मी होता है वह शूद्र, और जो शूद्र इन्द्रिय-संयम, सत्य और धर्म में स्थित रहता है, मैं उसे ब्राह्मण मानता हूँ क्योंकि मनुष्य सद्वृत्तियों से ही

ब्राह्मण बनता है।'' (महाभारत वन० 216 / 14)। ''यदि शूद्र ज्ञानसम्पन्न हो तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठतर है और इसके विपरीत यदि ब्राह्मण आचरणभ्रष्ट है तो वह शूद्र से भी नीचा है'' (भवि० पु० 44 / 33)। अतः उपर्युक्त सन्दर्भों से इस बात की पुष्टि मिलती है कि मनु-कथित वर्ण-परिवर्तन की प्रेरणादायक प्रक्रिया को भविष्य पुराण के रचानकाल तक मान्यता थी, क्योंकि मनु का समस्त चिन्तन का उद्देश्य व्यक्ति की सुप्त शक्तियों को जगाकर उसे उच्चतम अवस्था तक पहुँचाने का मार्ग खोलना है, आत्म-विकास के सभी मार्ग एवं साधन अपनाने की प्रेरणा देना है।

वर्ण-परिवर्तन के उपाय—मनु ने न केवल शूद्र को ब्राह्मण तक बनने की स्वतन्त्रता एवं अधिकार दिया, बल्कि उसका साधन भी बताया है कि ''सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि नियम पालने, अग्निहोत्रादि होम करने, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग, वेदस्थ कर्म-उपासना-ज्ञान-विद्या के ग्रहण, पक्षेष्टि यागादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति एवं पालन, पञ्चमहायज्ञ और अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मण का शरीर बनाया जाता है।'' (भाष्य—सुरेन्द्र कुमार)

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ *(मनु० 2 / 28)*

पुनः मनु कहते हैं कि मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह अधम और संकीर्ण स्वभाव के लोगों का साथ छोड़कर नित्य सदाचारी व श्रेष्ठ पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जाये। ब्राह्मण वर्ण की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ-श्रेष्ठ लोगों से सम्बन्ध बढ़ाते हुए और अधम व नीच लोगों की संगति छोड़ते हुए और अधिक श्रेष्ठता को पाये। इसके विपरीत व्यवहार करने से ब्राह्मण भी अवनत होकर शूद्रता को पा जाता है (4 / 244-245)—

उत्तमैरुमत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्॥
उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥

अतः सत्याचरण, संयम, मधुर व्यवहार एवं दुर्गुणों को त्यागने से व्यक्ति क्रमशः विकास द्वारा ब्राह्मण (सदाचारी) बन सकता है। मनु बार-बार व्यक्ति को निजी धर्म, प्रवृत्तियों एवं आत्मिक शक्तियों के सर्वांगीण विकास पर बल देते हैं। केवल मोटवानी की समीक्षा के अनुसार "मनु के सामाजिक सिद्धान्त का मूल-केन्द्र धर्म है। उनका उद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक शक्तियों, समाजव्यवस्था-नियन्त्रण, सामाजिक व्यवस्थाओं, सामाजिक मान्यताओं और सामाजिक प्रगति आदि को प्रतिपादित करना है। धर्म की अवधारणा व्यक्ति के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को व्यक्त करती है और धर्म व्यक्ति में अन्तर्निहित एक वैशिष्ट्य है जो व्यक्तियों का पारस्परिक विभेदक भी है। हम किसी व्यक्ति को उसके धर्म से जानते हैं।" (मनु धर्मशास्त्र, पृ० 55)

वर्ण-परिवर्तन को मान्यता—मनु-प्रोक्त वर्ण-परिवर्तन न केवल सैद्धान्तिक था, वरन् उसका समाज में व्यवहार भी होता था, क्योंकि तब समाज एवं राज्य-व्यवस्था वेदानुसार थी। इस लेखक ने अपनी 'हिन्दू धर्मशास्त्रों में छुआछूत' पुस्तक में वेदों के ऋषियों एवं पुराणों के अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषि ब्राह्मण ही नहीं, परन्तु वे भी थे जो पहले कभी क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र थे अथवा दासी-पुत्र एवं शूद्रा माँ की सन्तान थे। जीविका के लिए अनेक ब्राह्मण वैश्य हो गये और ईश्वर-साधना के लिए अनेक क्षत्रिय व वैश्य ब्राह्मण बन गये। अनेक परिवारों में विभिन्न वर्णों के पुत्र होते थे, जैसाकि हम आज भी देखते हैं कि एक ही दम्पती की विभिन्न सन्तानें डॉक्टर, इन्जीनियर, व्यापार-प्रबन्ध, सेनाधिकारी तथा कम पढ़े-लिखे भी होते हैं। परन्तु डॉ० अम्बेडकर वर्ण-व्यवस्था की व्यावहारिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं (सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 154)। वर्तमान समाजविज्ञान के शोधकार्य ने सिद्ध किया है कि गत 15-20 वर्षों में विभिन्न जातियों के एक ही प्रकार की शिक्षा जैसे मेडिसिन व इन्जीनियरिंग, या एक ही प्रकार की जीविका जैसे सर्विस करनेवाले युवा-युवतियों में विवाह की संख्या बढ़ी है। यह समान गुण-कर्म-स्वभाव यानी वर्णानुकूलन नहीं है तो क्या है? राज्य-व्यवस्था द्वारा गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था अपनाने पर वर्ण-व्यवस्था पूर्णतया व्यावहारिक है

जोकि वर्तमान राज्य-व्यवस्था बदलने पर ही सम्भव है।

क्या मनु द्वारा शूद्र उपेक्षित है?—''मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था में शूद्र उपेक्षित, अस्पृश्य और घृणा का पात्र नहीं है। मनु का चिन्तन वेद-आधारित है जिसमें सब बराबर हैं—**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय** (ऋग्० 5/60/5), यानी मनुष्यों में न कोई बड़ा है, न कोई छोटा, ये सब बराबर के भाई हैं। वे सब मिलकर लौकिक और पारलौकिक उत्तम ऐश्वर्य के लिए प्रयत्न करें।'' वेदों में शूद्र कहीं भी हेय या निम्न श्रेणी का नहीं माना गया है। उसे भी वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार दिया गया है। यजुर्वेद (26/2) के अनुसार ''जैसे ईश्वर ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, स्त्री, सेवक और उत्तम-अन्त्यज आदि मनुष्यों को वेदवाणी का उपदेश करता है, वैसे ही सब मनुष्य अच्छे प्रकार इसका उपदेश करें। इसमें किसी का अनधिकार नहीं है''—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।

'अहिर्बुध्न्य संहिता' (55/20-21) में चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार है। वेदों में शूद्रों को यज्ञ करने की स्वतन्त्रता है—**पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्** (ऋग्० 10/43/4-5)—''जैसे हम विद्वज्जन वाणी के मुख्य वचन वेदज्ञान का आचरण करें जिससे हम असुर प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करें। हे यज्ञ करनेवालो! चारों वर्णों और पाँचवें अवर्ण मनुष्यो! मेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञ को किया करो।''

मनुस्मृति में भी 'शूद्रों को अपने धर्मपालन का अधिकार है' (**न धर्मात्प्रति वेधनम्,** 10/126)। मनु ने चारों वर्णों के आवश्यक कर्मों में वेदाध्ययन और धर्मपालन का उपदेश दिया है (1/31, 87-91 आदि)। शूद्र आर्य है। मनु के अनुसार किसी भी वर्ण में दीक्षित व्यक्ति आर्य है (10/57)। डॉ० अम्बेडकर ने भी शूद्र को आर्य एवं क्षत्रिय माना है ('शूद्रों की खोज', पृ० 61)। मनु ने सम्मान के क्रमशः पाँच आधार माने हैं—धन, कुटुम्ब, आयु, उत्तम कर्म और विद्या। इनमें मुख्यतया शूद्र को आयु के आधार पर सम्मान्य माना है (2/136-137)। अपने से न्यून से भी विद्या-अनुभव मिले तो ग्रहण करना चाहिए।

शूद्र दास नहीं है। शूद्र से काम लेकर पारिश्रमिक न देना मनु-व्यवस्था के विरुद्ध है। मनु ने सेवकों व भृत्यों को वेतन, स्थान और पद के अनुसार नियत करने का आदेश दिया है और सुनिश्चित किया है कि अनावश्यक रूप से उनका वेतन काटा न जाये (7/125-126) तथा लम्बी बीमारी पर भी वेतन दिया जाये (8/216)। पुनः द्विजों को आदेश है कि "वे अपने भृत्यों को, जो कि अक्सर शूद्र होते थे, पहले भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करें" (3/116)। क्या किसी तथाकथित वर्णरहित समाज में सेवकों को पहले भोजन कराया जाता है? मनु की दृष्टि कितनी मानवीय, उदात्त और समुचित है! फिर भी आरोप?

मनु ने शूद्र के प्रति भेदभाव नहीं किया है, बल्कि इसके विपरीत निर्धारित आयु-सीमा तक उपनयन में दीक्षित न होनेवाला 'व्रात्य' शूद्र कहलाता है जो प्रायश्चित्त करके पुनः द्विज बन जाता है (2/37/40)

दण्ड-व्यवस्था में मनु विद्वान् एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति के प्रति ज्यादा कठोर हैं, जैसे "चोरी करे उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को 16 गुणा, क्षत्रिय को 32 गुणा और ब्राह्मण को 64 या 100 या 128 गुणा दण्ड देना चाहिए।" (8/337-338)। जिस अपराध में सामान्य मनुष्य पर एक पण दण्ड हो, उसी अपराध में राजा को एक हजार गुणा दण्ड हो (8/336)। मनु की दण्ड-व्यवस्था में किसी को छूट नहीं, भले ही वे आचार्य, पुरोहित एवं राजा के माता-पिता ही क्यों न हों। राजा दण्ड दिये बिना मित्र को भी न छोड़े और कोई समृद्ध व्यक्ति शारीरिक अपराध-दण्ड के बदले विशाल धनराशि देकर छूटना चाहे तो उसे कभी न छोड़े (8/335, 347)—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान्॥

जातिभेद का कारण : मनुस्मृति में प्रक्षेप—आज जो मनु पर शूद्र और नारी-विरोधी तथा ब्राह्मणवादी होने का आरोप लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण निस्सन्देह 'मनुस्मृति' के वे श्लोक हैं जिनमें जातिभेद, ब्राह्मणों

को वरीयता, शूद्रों को हेयता, स्त्रियों की उपेक्षा, मांसभक्षण, वेदपठन-पाठन के अधिकार में पक्षपात आदि हैं। ये सभी श्लोक मनु के मूल आदर्श 'वेद चक्षु सनातनम्' के विरुद्ध हैं जो कि बाद में 'मनुस्मृति' में मिलाये गये हैं। नवीनतम शोधकार्य से सिद्ध हुआ है कि इस्लामी राज्यकाल की नौवीं सदी से लेकर विभिन्न कालों में 'मनुस्मृति' में मिलावट होती रही है, जो मुख्यतया समाज-व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म और स्त्रियों के कर्तव्यों-अकर्तव्यों व अधिकारों के विषय में है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का प्रचार था जिनमें श्लोक मिलाना बहुत ही आसान था।

लगातार मिलावट—

1. नौवीं सदी की मेधातिथि की टीका से बारहवीं सदी की कुल्लूक भट्ट की टीका में ही एक सौ सत्तर श्लोक अधिक पाये गये हैं। क्योंकि वे पूरी तरह घुल-मिल नहीं पाये, इसलिए वे कोष्ठक में दिये गये।

2. पाश्चात्य शोधकर्ताओं जैसे बुहलर, ज० जॉली, ए०बी० कीथ, मैक्डॉनल और ऐन्साइक्लोपीडिया (अमरीका) के लेखकों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप माने हैं।

3. महर्षि दयानन्द ने जहाँ अपने ग्रन्थों में 'मनुस्मृति' के वेदानुकूल 514 श्लोकों को प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है, वहीं उन्होंने 'मनुस्मृति' में प्रक्षेप माने हैं।

4. 1907 में प्रकाशित मनु-भाष्य में तुलसीदास स्वामी ने 'मनुस्मृति' में प्रक्षेप माने हैं। इसीलिए चन्द्रमणि विद्यालंकार, सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री और प्रो० सुरेन्द्रकुमार ने 1981 में प्रक्षेपों को निकालकर 'मनुस्मृति' के शुद्ध संस्करण छापे हैं।

5. नेत्रपाल शास्त्री ने 1986 में तीस मनुस्मृतियों की समीक्षा करके पाया कि उनमें पाठभेद व पाठ-आधिक्य है और तीन सौ सत्तर श्लोक मिलाये गये हैं।

6. डॉ० उर्मिल रुस्तगी और स्वदेश नारंग ने 'मनुस्मृति' के पाँच प्रमुख भाष्यों की तुलना करके सिद्ध किया कि इन स्मृतियों में कुल श्लोक-संख्या, उनके क्रम और अध्यायों में श्लोकों के वितरण में काफी अन्तर है। उन्होंने इन संस्करणों के 2683-2691 श्लोकों में से 47 से लेकर 1502

श्लोक मिलावटी पाये।

मनुस्मृतियों के विभिन्न संस्करणों में बाद के राजाओं, ऋषियों एवं स्मृतिकारों के नामों से मिलावट साफ सिद्ध होती है। वर्णसंकर जातियों के नाम, श्राद्ध-व्यवस्था एवं अन्य वेद-विरोधी मान्यताओं का विद्यमान होना मनु के मूल आदर्शों के विरुद्ध होने से प्रक्षेप साफ सिद्ध होते हैं।

आखिर मिलावट क्यों—'मनुस्मृति' हिन्दुओं के विधि-विधान का एक प्रामाणिक धर्मशास्त्र है। धर्मान्तरणकारी इस्लाम और विश्वचर्च का सदैव से हिन्दू धर्मशास्त्रों को हेय सिद्ध करके हिन्दुओं के धर्मान्तरण की गति को तेज करने का उद्धेश्य रहा है। ब्रिटिश राज्यकाल में विलियम जोन्स ने 1794 में 'मनुस्मृति' का सबसे पहले अंग्रेजी में अनुवाद किया। मिशनरियों ने 'मनुस्मृति' में प्रक्षेपों की अतिशयोक्ति करके हिन्दू धर्म के विषय में व्यापक कुप्रचार किया जिसको ब्रिटिश राज का भरपूर समर्थन मिला। इस तरह इन मिशनरियों ने एक तरफ 'मनुस्मृति' को हिन्दू धर्मशास्त्र कहा और दूसरी तरफ 'मनुस्मृति' के उदात्त, व्यापक, मानवोपयोगी, विकासवादी स्वरूप की उपेक्षा करके इन प्रक्षेपों के आधार पर इसे ब्राह्मणवादी और शूद्र-विरोधी कहकर जातिभेद की खाई को लगातार गहरा खोदा जिसमें चर्च-समर्थित भारतीय लेखकों ने भी साथ दिया। इस प्रकार की मिलावट वेदों के अलावा लगभग सभी प्रमुख हिन्दू धर्मशास्त्रों में है।

प्रक्षेपों की वैज्ञानिक परीक्षा—'मनुस्मृति' में मिलावटी श्लोकों के परीक्षण के लिए प्रो० सुरेन्द्रकुमार ने सबसे पहले व्यवस्थित ढंग से पूर्वाग्रहों से मुक्त और तटस्थ रहकर एक वैज्ञानिक शैली विकसित की है जिसके सात आधार या मापदण्ड हैं। वे आधार हैं—

1. अन्तर्विरोध या परस्पर-विरोध, 2. प्रसंग-विरोध, 3. विषय-विरोध, 4. अवान्तर-विरोध 5. शैली-विरोध, 6. पुनरुक्ति, और 7. वेद-विरोध (मनुस्मृति सुरेन्द्र कुमार पृ० 7)। ये मापदण्ड निश्चित रूप से किसी भी पुस्तक में प्रक्षेपों को ढूँढ़ निकालने की अनुपम वैज्ञानिक शैली है जिसे कोई भाषाविद् अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रो० सुरेन्द्रकुमार ने इन मापदण्डों के आधार पर 'मनुस्मृति' के वर्तमान संस्करण के प्रत्येक श्लोक

को परखा, प्रक्षेपों को ढूँढ़ा और उनको निकालने के उपर्युक्त एक या अधिक विरोधों के कारणों की समीक्षा करते हुए 'मनुस्मृति' के 2685 श्लोकों में 1471 को प्रक्षिप्त माना तथा उन्हें निकालकर एक विशुद्ध 'मनुस्मृति' प्रकाशित की है। तदनुसार विभिन्न अध्यायों में कुल व प्रक्षिप्त (कोष्ठ में) श्लोक इस प्रकार हैं—1. 144 (66), 2. 224 (60), 3. 286 (202), 4. 260 (170) 5. 169 (128), 6. 97 (33), 7. 226 (42), 8. 420 (187), 9. 168, 10. 142 (127), 11. 266 (234), और 12. 126 (84)।

अतः सबसे अधिक प्रक्षेप समाज-व्यवस्था, शूद्र तथा ब्राह्मण और स्त्रियों से सम्बन्धित विषयों पर है।

ब्राह्मण-शूद्र सम्बन्धी प्रक्षेप क्या ? आज मनु पर जो ब्राह्मणवादी और शूद्र-विरोधी होने का आरोप लगाया जाता है, उसका मूल कारण उपर्युक्त प्रक्षिप्त श्लोक हैं। इनमें से शूद्र-ब्राह्मण सम्बन्धी 127 श्लोक मिलावटी हैं जिनका हिन्दी-भाष्य यहाँ आगे दिया जा रहा है ताकि पाठकों को स्पष्ट हो सके कि कौन-कौन-से विचार मनु की मूल मान्यताओ के विरुद्ध और अमान्य हैं। मगर इन अर्थों को पढ़ते समय दो समाज-व्यवस्था कर्मणा व्यवस्था हैं, वर्तमान जन्मना जाति-व्यवस्था नहीं। तदनुसार ब्राह्मण का अर्थ विद्वान, ज्ञानी, तपस्वी, जितेन्द्रिय व्यक्ति है और शूद्र का अर्थ कम या बिना पढ़ा-लिखा, अल्पज्ञ, कुशल या अर्धकुशल कारीगर है। दूसरे, मनु के कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मण एवं अनुसूचित, जनजाति और पिछड़ी जातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का आज की जन्मना जाति-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि दोनों व्यवस्थाएँ परस्पर विरोधी हैं जैसाकि अम्बेडकर ने भी माना है।

शूद्र एवं ब्राह्मण-सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों का अध्यायानुसार विवरण

(मनुस्मृति-प्रो० सुरेन्द्रकुमार कृत हिन्दी भाष्य, तृतीय संस्करण 1991)

1. (1 /116, पृ० 94), 2. (1 /143, पृ० 114), 3. (2 /62, पृ० 141), 4. (2 /135, पृ० 177), 5. (2 /172, पृ० 193), 6. (3 /13, पृ० 232), 7. (3 /14, पृ० 232), 8. (3 /15, पृ० 232), 9. (3 /16, पृ०

233), 10. (3 /17, पृ० 234), 11. (3 /18, पृ० 233), 12. (3 /19, पृ० 233), 13. (3 /23, पृ० 237), 14. (3 /44, पृ० 249), 15. (3 /64, पृ० 260), 16. (3 /110, पृ० 284), 17. (3 /112, पृ० 284), 18. (3 /156, पृ० 296), 19. (3 /191, पृ० 303), 20. (3 /197, पृ० 304), 21. (3 /249, पृ० 314), 22. (3 /250, पृ० 314), 23. (4 /80, पृ० 340), 24. (4 /81, पृ० 351), 25. (4 /140, पृ० 367), 26. (4 /211, पृ० 391), 27. (4 /218,पृ० 393), 28. (4 /223, पृ० 394), 29. (4 /253-254, पृ० 404), 30. (5 /83, पृ० 431), 31. (5 /92, पृ० 433), 32. (5 /99, पृ० 434), 33. (5 /104, पृ० 435), 34. (5 /139, पृ० 446), 35. (5 /140, पृ० 546), 36. (8 /20, पृ० 616), 37. (8 /21, पृ० 616), 38. (8 /22, पृ० 617), 39. (8 /68, पृ० 631), 40. (8 /88, पृ० 638), 41. (8 /102, पृ० 642), 42. (8 /104, पृ० 642), 43. (8 /113, पृ० 644), 44. (8 /142, पृ० 657), 45. (8 /267, पृ० 692), 46-47. (8 /268-269, पृ० 692), 48-49. (8 /270-272, पृ० 692), 50. (8 /277, पृ० 694), 51. (8 /374, पृ० 724), 52. (8 /377, पृ० 724), 53. (8 /379, पृ० 725), 54. (8 /380, पृ० 726), 55. (8 /381, पृ० 725-726), 56. (8 /382), 57. (8 /383), 58. (8 /384), 59. (8 /385, पृ० 726), 60. (8 /410, पृ० 734), 61. (8 /412, पृ० 735), 62-63. (8 /413-414, पृ० 735), 64-65. (8 /417-418, पृ० 736), 66. (9 /98, पृ० 768), 67-74. (9 /150, पृ० 786), (9 /151), (9 /152-153), (9 /154), (9 /155, पृ० 787), (9 /157 पृ० 787) (9 /160, पृ० 780), 75-76. (9 /178-179, पृ० 792-793), 77. (9 /229, पृ० 806), 78. (9 /248, पृ० 811), 79-80. (10 /8-9, पृ० 841), 81. (10 /12), 82-83. (10 /16, 18, पृ० 842-843), 84. (10 /30, पृ० 845), 85-86. (10 /41, 43, पृ० 847), 87. (10 /64, पृ० 856, 88-89. (10 /66-67, पृ० 860), 90. (10 /73, पृ० 861), 91-92. (10 /90, 92 पृ० 865-866), 93-95. (10 /98, पृ० 867), (10 /99), (10 /100, पृ० 867), 96. (10 /103, पृ० 868), 97. (10 /110, पृ० 869), 98. (10 /117 पृ० 870), 99. (10 /120, पृ०

875), 100. (10/123, पृ० 876), 101. (10/124), 102. (10/125), 103. (10/126), 104. (10/127, पृ० 877), 105. (10/128), 106. (10/129, पृ० 877), 107. (11/131, पृ० 882), 108. (11/24, पृ० 885), 109. (11/34, पृ० 887), 110-111. (11/42-43, पृ० 888), 112. (11/66, पृ० 896), 113. (11/67), 114. (11/69, पृ० 896), 115. (11/97,पृ० 902), 116-118. (11/127, 128, 130, पृ० 908), 119. (11/138, पृ० 910), 120. (11/148, पृ० 912), 121. (11/152, पृ० 912-913), 122. (11/175, पृ० 917), 123. (11/178, पृ० 917), 124. (12/72, पृ० 971)

अत: उपर्युक्त मिलावटी श्लोकों से स्पष्ट होता है कि वर्तमान मनुस्मृति में सार्वजनिक सम्मान, विवाह एवं दण्ड-व्यवस्था में ब्राह्मणों को वरीयता और शूद्रों को हेयभाव 'मनुस्मृति' का अंग नहीं हैं। ये विचार मनु की 'वेद चक्षु सनातनम्' के मूल आधार से विपरीत, व अप्रामाणिक होने से अमान्य और त्याज्य हैं। हिन्दू धर्म इन प्रक्षेपों के कथित विचारों के आधार पर वर्तमान जात-पाँत, ऊँच-नीच और जन्मना जाति-व्यवस्था को मान्यता नहीं देता। यदि कोई व्यक्ति, समुदाय या संस्था विश्वचर्च, पैन-इस्लामिक संगठन एवं अन्य पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर जान-बूझकर मनुस्मृति एवं हिन्दू धर्म को कलंकित करने का प्रयास करता है, तो मनु के साथ अन्याय होगा। सामाजिक न्याय के नाम पर सामाजिक अन्याय होगा।

अनुसूचित व पिछड़ी जातियाँ शूद्र नहीं—आज की अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ एवं पिछड़ी जातियाँ शूद्र वर्ण की नहीं हैं, क्योंकि शूद्र वर्ण की परिभाषा और लक्षण उपर्युक्त जातियों पर लागू नहीं होते। मनु के अनुसार जिनका विद्यारूपी ब्रह्मजन्म नहीं होता, वह 'एक जाति' रहनेवाला व्यक्ति शूद्र है। "**शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते**" (मनु० 2/172) यानी "जब तक व्यक्ति का वेदाध्ययनरूप जन्म नहीं होता, तब तक वह शूद्र के समान ही होता है।" यही बात स्कन्द पुराण में कही है कि 'प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, उपनयन-संस्कार व शिक्षा से दीक्षित होकर ही वह द्विज बनता है। अत: मनु ने कहा—जिनका नियमित शिक्षा-दीक्षा से विद्यारूपी दूसरा जन्म हो चुका होता

है वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि द्विज हैं (मनु० 10/4)। इस परिभाषा के अनुसार अशिक्षित, अज्ञानी, जन्म के ब्राह्मण शूद्र हैं और जन्म के अनुसूचित व पिछड़ी जातियों के अनेक सुशिक्षित, इन्जीनियर, डॉक्टर व अन्य विद्वान लोग ब्राह्मण हैं। अतः मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था आज के हिन्दू समाज की जन्मना जाति-व्यवस्था पर लागू नहीं होती, क्योंकि मनु जन्मना जाति-व्यवस्था का उल्लेख तक नहीं करते हैं, समर्थन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए 'मनुस्मृति' में प्रक्षिप्त वर्ण-संकरता अवश्य है, मगर जन्मना जाति-व्यवस्था नहीं है। यदि बाद के लोगों ने किसी कारणवश मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को विकृत कर वर्ण-संकरों को या अन्य जातियों को शूद्रों में शामिल कर दिया तो इसमें मनु का क्या दोष? इस विकृतीकरण के बाद ब्राह्मणादि वर्णों से बाह्मण जातियाँ या अनेक उपजातियाँ तो बन गईं, मगर फिर भी शूद्र नाम की कोई जाति नहीं बनी है। मनु के अनुसार "जो उच्च वर्णों में दीक्षित हैं मगर उनके निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, वे शूद्र हो जाते हैं (मनु० 2/126, 169, 170, 172, 10/4 आदि), फिर भी शूद्र जाति नहीं, क्योंकि मनु के समय तक जन्मना जातियाँ नहीं बनी थीं। पुनः आज सरकार द्वारा स्वीकृत अनेक अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़ी जातियों का उद्गम तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों तथा पञ्चजनों एवं उनकी वर्ण-संकर और उपजातियों से सम्बन्धित हो सकता है। ये सब जन्मना जातियाँ हैं, अतः उन पर मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के लागू होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, तो फिर इन जातियों द्वारा मनु-विरोध क्यों?"

मनु, अम्बेडकर और जाति-व्यवस्था—मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था अपनी प्रकृति के अनुसार जीविका-चयन, श्रम-विभाजन एवं विधि-विधान का कालान्तर में धीरे-धीरे विकृतीकरण हुआ। यह कब, क्यों और कैसे हुआ—कहना मुश्किल है, मगर आज हिन्दू-समाज में जो विकृत जन्मना जाति-व्यवस्था प्रचलित है, उसका प्रामाणिक हिन्दू धर्मशास्त्रों—वेदों एवं वेदानुकूल ग्रन्थों में कहीं समर्थन नहीं किया गया। फिर भी उसको मनु के नाम से जोड़कर मनु और हिन्दू धर्म की निन्दा करने का एक व्यापक राजनैतिक षड्यन्त्र चलाया जा रहा है जिसमें विश्व-चर्च और

'पैन—इस्लामिक संगठन' पूर्णतया सक्रिय हैं।

मनु-विरोध की प्रक्रिया में डॉ० अम्बेडकर सबसे अधिक चर्चित एवं अग्रणी हैं। जन्मना जाति-व्यवस्था व उससे जुड़ी जातिभेद, छुआछूत, जाँच-पाँत की खाई से जो आक्रोश उनके मन में पैदा हुआ, वह सर्वथा उचित था। निस्सन्देह जन्मना जाति-व्यवस्था अमानवीय, अनुसूचित और समाज-विघटनकारी है। इसीलिए महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध से लेकर अनेक सन्तों और राष्ट्रभक्तों ने इसे मिटाने का भरसक प्रयास किया। मगर डॉ० अम्बेडकर ने जातिभेद मिटाने का जो राजनीति से प्रेरित, नकारात्मक और समाज-विघटनकारी आन्दोलन छेड़ा, उसकी जड़ से मनु को जोड़ना सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि पहले तो डॉ० अम्बेडकर की संस्कृत एवं वैदिक वाङ्मय और हिन्दू शास्त्रों पर पकड़ न थी। उनके समस्त अध्ययन और लेखन का आधार हिन्दू धर्मशास्त्रों पर यूरोपीय मिशनरियों द्वारा अंग्रेजी में लिखित वह साहित्य था जो भारतीय संस्कृति के विकृतीकरण के उद्देश्य से तैयार किया गया था।

दूसरे, वे 'मनुस्मृति' एवं अन्य हिन्दू धर्मशास्त्रों में बाहरी मिलावट की प्रक्रिया जो पिछले पन्द्रह सौ वर्षों से चली आ रही है, उसके कारण मूल और प्रक्षिप्त श्लोकों में भेद न कर सके, या करना नहीं चाहते थे। हालाँकि 'मनुस्मृति' में मिलावट की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया था।

निस्सन्देह डॉ० अम्बेडकर ने न्यूयॉर्क में 9 मई, 1916 को भारत में जाति-प्रथा और 1936 में 'लाहौर जात-पाँत तोड़क मण्डल' के लिए जाति-उन्मूलन पर लिखे लेखन में गम्भीरता से विचार किया है। मनु तथा जाति-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके मुख्य विचार इस प्रकार हैं—

1. एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि मनु ने जाति-विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जाति-प्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी। वह तो उसका पोषक था। इसलिए उसने इसे एक दर्शन रूप दिया (जाति प्रथा पृ० 29, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड 1)।

2. जाति का आधारभूत सिद्धान्त वर्ण के आधारभूत सिद्धान्त के मूलरूप से भिन्न है, न केवल मूलरूप से भिन्न है, बल्कि मूलरूप से परस्पर-विरोधी है। पहला सिद्धान्त गुण पर आधारित है।....वर्ण-व्यवस्था

की स्थापना के लिए पहले जाति-प्रथा को समाप्त करना होगा (जाति-प्रथा उन्मूलन, पृ० 81, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड 1)।

3. सामाजिक और वैयक्तिक कार्य-कुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता का इस बिन्दु तक विकास किया जाये कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जाति-प्रथा में इसका उल्लंघन होता है (जाति-प्रथा उन्मूलन, पृ० 66)।

4. वेद में वर्ण की धारणा का सारांश यह है कि व्यक्ति वह पेशा अपनाये जो उसकी स्वाभाविक योग्यता के लिए उपयुक्त हो (जाति-प्रथा उन्मूलन, पृ० 119)

5. मैं मानता हूँ कि स्वामी दयानन्द व कुछ अन्य लोगों ने वर्ण के वैदिक सिद्धान्त की जो व्याख्या की है, वह बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। मैं यह व्याख्या नहीं मानता कि जन्म किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित करने का निर्धारक तत्त्व हो। वह केवल योग्यता, को मान्यता देती है (जाति-प्रथा उन्मूलन, पृ० 119)।

6. कदाचित् मनु जाति के निर्माण के लिए जिम्मेदार न हो, परन्तु मनु ने वर्ण की पवित्रता का उपदेश किया है ''''वर्ण जाति की जननी है और इस अर्थ में मनु जाति-व्यवस्था का लेखक न भी हो, परन्तु उसका पूर्वज होने का उस पर निश्चित ही आरोप लगाया जा सकता है (हिन्दुत्व का दर्शन, सम्पूर्ण वाङ्मय, 6, पृ० 43)।

7. यह निर्विवाद है कि वेदों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त की रचना की है, जिसे पुरुष सूक्त के नाम से माना जाता है (हिन्दुत्व का दर्शन, पृ० 122)

अतः डॉ० अम्बेडकर मानते हैं कि 1. वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति वेदों से हुई है, 2. व्यक्ति अपनी स्वाभाविक योग्यतानुसार अपना पेशा अपनाये, 3. मनु वर्तमान जन्मना जाति-व्यवस्था का निर्माता नहीं है, 4. वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के विपरीत है, और 5. मनु ने वर्ण की पवित्रता पर बल दिया। अब समझने की बात यह है कि जब वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति वेदों से है तो मनु वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं है। उन्होंने उस व्यवस्था को पवित्रतम बनाये रखने पर बल दिया जो कोई अपराध

नहीं है, और जब मनु वर्तमान जन्मना जाति-व्यवस्था के निर्माता नहीं तो उसके लिए मनु को दोषी ठहराना कहाँ तक उचित है? यह अनुचित ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी है। इस प्रकार मनु वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था दोनों के निर्माता के आरोप से मुक्त हो जाते हैं।

अब रहा मनु का 'जाति-व्यवस्था के पूर्वज' होने का आरोप। डॉ० साहब स्वयं जातिवाद के कट्टर विरोधी थे जो उनकी अध्यक्षता में संविधान सभा द्वारा रचित भारत के संविधान से सुस्पष्ट है, मगर उनके बाद के सांसदों ने संविधान में अब तक 80 संशोधन किये हैं तथा अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़ी जातियों को सरकारी नौकरियों तथा शिक्षा-संस्थाओं में जाति-आधारित आरक्षण और उससे जुड़ी अनेक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं के लिए क्या डॉ० अम्बेडकर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? नहीं। क्या हम उनके धवल चरित्र और राष्ट्रीय निष्ठा पर जाति-द्वेष और जाति-आधारित सामाजिक विघटन के कलंक को उनके माथे पर थोप सकते हैं? नहीं। यदि आज का जाति-आधारित आरक्षण का स्वरूप आगे चलकर और भी अधिक बीभत्स, विघटनकारी, द्वेषपूर्ण और निष्कृष्ट हो जाये तो क्या उसके लिए डॉ० अम्बेडकर और उनकी संविधान सभा को दोषी ठहराया जायेगा, क्योंकि उन्होंने तो आज की जातिगत राजनीति से प्रेरित व्यवस्था को मान्यता नहीं दी थी? यह तो राजनैतिक विकृतीकरण है। इसी प्रकार वर्तमान जन्मना जाति-व्यवस्था, मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था से विरोधी व्यवस्था है जोकि हिन्दू धर्म की महानतम विकृति है। साथ ही जब डॉ० अम्बेडकर मानते हैं कि "अकेला मनु न तो जाति-व्यवस्था को बना सकता है और न लागू कर सकता था।" (मनु का विरोध क्यों? सुरेन्द्रकुमार, पृ० 20) तो फिर हिन्दू समाज में कालान्तर में हुए इस विकृतीकरण के लिए भला मनु कैसे उत्तरदायी हो सकते हैं? वे तो वर्ण-व्यवस्था को सख्ती से पालन करने-करवाने के पक्षधर थे, जिसे अम्बेडकर ने भी माना है।

इसके अलावा डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि "यदि आप जातिप्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों में और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा (जाति-प्रथा उन्मूलन, पृ० 99)। एक

तरफ वे मानते हैं कि वेदों में जो वर्ण-व्यवस्था है, वह गुण-कर्म-आधारित होने से बुद्धिमत्तापूर्ण है।

फिर वेदों को डायनामाइट क्यों? क्या यह परस्पर-विरोधी कथन नहीं? साथ ही वे धर्मशास्त्रों को त्यागने की बात करते हैं, परन्तु उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों को त्यागकर बौद्ध शास्त्रों को प्रामाणिक माना है। लेकिन बौद्ध होने पर भी उन्होंने बौद्ध धर्मशास्त्रों की अवज्ञा की, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने स्वयं वेदों की प्रशंसा की है और धर्म में वेदों की सराहना की है। जैसे—**विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मम्। न उच्चावचं गच्छति भूरि पञ्ञो।** (सुत्तनिपात 292) यानी महात्मा बुद्ध कहते हैं कि "जो विद्वान् वेदों से धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है वह भी विचलित नहीं होता है।" इसी प्रकार पुनः "वेद को जाननेवाला विद्वान् इस संसार में जन्म और मृत्यु की आसक्ति का त्याग करके और इच्छा, तृष्णा तथा पाप से रहित होकर जन्म-मृत्यु से छूट जाता है (सुत्तनिपात 1060)।"

डॉ० अम्बेडकर के हिन्दुत्वदर्शन और मनुस्मृति के गम्भीर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनका मनु-विरोध मुख्यतः मनुस्मृति के वर्तमान संस्कारों में मिलावटी श्लोकों के कारण है। डॉ० सुरेन्द्रकुमार ने 1981 में सात प्रामाणिक मापदण्डों के आधार पर इन मिलावटी श्लोकों को निकालकर 'विशुद्ध मनुस्मृति' प्रकाशित की है। डॉ० अम्बेडकर ने अपने हिन्दुत्वदर्शन में 'मनुस्मृति' के जिन 112 श्लोकों का उद्धृत किया है, उनमें से डॉ० सुरेन्द्रकुमार के मापदण्डों के अनुसार 71 यानी लगभग 64 प्रतिशत श्लोक मिलावटी हैं और शेष 412 श्लोकों का भाष्य भी हिन्दू धर्मशास्त्रों की परम्परा से न केवल भिन्न है, बल्कि विपरीत भी है। हिन्दुत्व दर्शन में उद्धृत 'मनुस्मृति' के प्रक्षिप्त श्लोकों का अध्याय एवं मन्त्र-संख्यानुसार और कोष्ठ में हिन्दुत्व दर्शन की पृष्ठ-संख्या का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

1. 93, 94, (96), 95, 96, 98, 99, 100 (97), 2. 36, 37, (52), 66 (55), 116 (64), 169, 170 (52), 3. 12, 13, (45), 4. 99 (64), 5. 39 (44), 6. 87, 88, 113, 123, (46), 112, 267, 268, 270, 271, 272, 276, 277 (47), 279, 280, 281, 282, 283, 359, 366, 374, (48), 375, 376, 377, 379, 380, 382, 383, 384, 385,

(49), 124, 125, 381, (40), 410, 418 (61), 7. 18 (64), 313 (97), 317, 323 (101), 8. 127, (55), 122 (61), 125, 129 (62), 3 (96) 35 (97) 123 (98), 81, 82, (100) 11. 126, 127, 128, 129, 130, (50), 198 (64) 35 (97)। कुल 71।

ये मिलावटी श्लोक मनु के वचन न होने के कारण मूल 'मनुस्मृति' एवं हिन्दू धर्म के अंग नहीं हैं। यदि उपर्युक्त श्लोकों को हिन्दुत्व दर्शन से निकाल दिया जाये और शेष 41 श्लोकों का निष्पक्ष दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाये तो हमें मनु के यथार्थ को समझने में काफी सहायता मिलेगी।

वस्तुतः डॉ० अम्बेडकर मनु के विषय में पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थे। उन्हीं के शब्दों में "उन पर मनु का भूत सवार था और उनमें इतनी शक्ति न थी कि वे उसे उतार सके" (मनु विरोध क्यों, सुरेन्द्रकुमार, पृ० 13)। जब सच्चाई यह है तो किसी तर्क, प्रमाण या व्याख्या का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। परन्तु इतना अवश्य है कि मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का मूल उद्देश्य प्रत्येक मानव में प्रस्तुत मानवीय शक्तियों का विकास कर उसे अधोगति से उठाकर सर्वोच्च अवस्था तक, या ब्राह्मणत्व तक ले जाना है, जैसाकि स्वामी विवेकानन्द ने बार-बार कहा है।

यदि हम 'मनुस्मृति' के मिलावटी श्लोकों को अमान्य समझकर विशुद्ध मनुस्मृति को अपनायें और पूर्वाग्रहों से ग्रसित मनु-विरोध के कुप्रचार को बन्द कर दें, तो भले ही हम एक आदर्श वर्णहीन और वर्गहीन समाज की रचना न कर सकें, परन्तु कम से कम जातिभेद की खाई को काफी पाट सकते हैं तथा जन्मना जातिगत-जन्य जातपाँत के घृणा-द्वेष एवं वैमनस्य को विलीन जरूर कर सकते हैं तथा एक प्रभावी सामाजिक सौहार्द अवश्य पैदा कर सकते हैं, क्योंकि मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का आज की अमानवीय, अधार्मिक, अप्रासंगिक जन्मना जाति-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। अच्छा हो कि हम निष्पक्ष भाव से मनु के यथार्थ को समझें और पारस्परिक समता, ममता और मानवता के आधार पर सौहार्दपूर्ण विकासवादी समाज की पुनर्रचना करें।

11

चिन्तन की एक भिन्न दिशा

मनु की वर्ण–व्यवस्था में शूद्र तथा अन्य वर्ण

डॉ० उर्मिला रुस्तगी

(समीक्षक एवं मनुस्मृति भाष्यकार)

'मनुस्मृति में वर्ण–व्यवस्था' तथा 'मनु द्वारा प्रतिपादित शूद्र वर्ण' जैसे विषयों का अध्ययन करने से पूर्व हमें सर्वप्रथम मनुस्मृति के ग्रन्थ–प्रकार को समझना होगा। प्रथमत: तो मनुस्मृति को धर्मशास्त्र मानने में कोई विवाद नहीं है। धर्मशास्त्र से अभिप्राय है, 'धर्माणां शास्त्रम्' अथवा 'तत् शास्त्रम् यस्मिन् धर्मा: कर्तव्याश्च वर्ण्यन्ते'। इस प्रकार यह एक विशेष काल का धर्मशास्त्र अथवा संविधान शास्त्र हुआ। यह तो सभी जानते हैं कि किसी भी देश का संविधानशास्त्र उस देश तथा काल की परिस्थितियों पर आधृत होता है। इस प्रकार मनुस्मृति भी अपने समय के धर्मों का आकलन करने के कारण तत्कालीन धर्मशास्त्र हुआ। मनुस्मृति का रचनाकाल 200 ई. पू. से 200 ई. सन् तक माना जाता है।[1] और इस प्रकार यह तत्कालीन तथा इससे पूर्व के समाज को प्रतिपादित करता है। केवल मोटवानी[2] के अनुसार

1. लेखिका मनस्मृति की व्याख्याकार हैं और भारतीय परम्परा से भी अवगत हैं। पता नहीं क्यों, यहाँ लेखिका ने मनुस्मृति का रचना–काल केवल पाश्चात्य मताधारित दिया है। भारतीय परम्परा और इतिहास के अनुसार मनु और मनुस्मृति का काल अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि समस्त प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत साहित्य में मनु और उसके विधानों का उल्लेख मिलता है। अत: मनु उस समस्त साहित्य से प्राचीन स्थिर होते हैं। इस काल के निर्धारण में पाश्चात्य लेखकों का पक्षपातपूर्ण और एकांगी दृष्टिकोण रहा है। भारतीय मत को जानने के लिए सम्पादक–लिखित प्रथम लेख द्रष्टव्य है। अथवा सम्पादकरचित पुस्तक द्रष्टव्य है—'महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर'।—सम्पादक
2. मोटवानी, केवल, मनु धर्मशास्त्र–ए सोशियोलॉजिकल एण्ड हिस्टोरिकल स्टडी, अंग्रेजी, मद्रास, 1958 ई. सन्

12

वर्णव्यवस्था में आर्य-शूद्र वैमनस्य की अवधारणा पाश्चात्य दुरभिसन्धि की देन

डॉ० सुरेन्द्रकुमार
(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

कुछ इतिहासकारों द्वारा व्यक्त इस मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं है कि वैदिक सन्दर्भ में आर्य-अनार्य, आर्य-शूद्र, आर्य-द्रविड़, उत्तर-दक्षिण, आदिवासी-आक्रामक आदि वैमनस्य सूत्रों की दृष्टि "ईसाई मिशनरियों और देशी-विदेशी साम्राज्यवादी लेखकों की अभिसन्धि"[1] से हुई है। वैदिक वर्णव्यवस्था उस वैमनस्य के अस्तित्व की पुष्टि नहीं करती। उन लेखकों ने प्रत्येक वैदिक अथवा गौरवपूर्ण भारतीय बिन्दु को इतना गड्ढ-मड्ढ और विवादित रूप से प्रस्तुत कर दिया है तथा उसका प्रसार एवं संस्कार इतना प्रबल हो गया है कि प्रत्येक पाठक के मस्तिष्क-पटल पर पहले उनके द्वारा प्रस्तुत अवधारणा ही उभरती है। विडम्बना देखिए, उनकी अवधारणाएँ मिथ्या एवं विघटनकारी हैं तथापि वैदिक-अध्येताओं को अपने तर्कों और प्रमाणों का पिटारा लेकर रक्षात्मक शैली में कटघरे में जैसे खड़ा होना पड़ता है।

सामाजिक सन्दर्भ में आर्य-शूद्र वैमनस्य का प्रश्न विस्तृत चर्चा की अपेक्षा रखता है किन्तु सीमित समय में कुछ बिन्दुओं की ही, और वह भी संक्षिप्त चर्चा करूँगा।

इस विषय में पहला विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वैदिक सामाजिक व्यवस्था अर्थात् वर्णव्यवस्था में आर्य और शूद्र वर्गों के

---

1. डॉ० फतहसिंह, 'वेदविद्या का पुनरुद्धार', पृ० 63 तथा पं. भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का इतिहास' प्रथम भाग, प्रथम अध्याय।

वैमनस्य की सम्भावना की कोई गुंजाइश है?

इस प्रश्न के उत्तर में मैं दृढ़तापूर्वक यह कहना चाहूँगा कि इस प्रश्न की अवधारणा ही भ्रामक, निराधार और कपटपूर्ण है, क्योंकि वैदिक मान्यता के अनुसार शूद्र आर्य वर्ण है और आर्य वर्णव्यवस्था का अभिन्न अंग रहा है। अत: वह आर्यों का विरोधी वर्ग नहीं हो सकता। वैदिक वर्णव्यवस्था का क्रियात्मक रूप प्रस्तुत करने वाले शास्त्र 'मनुस्मृति' में मनु 'वर्णापेतम अनार्यम्' (10/57) अर्थात् वर्णों से बाह्य को अनार्य मानते हैं और आर्यों में चारों वर्णों को स्वीकार करते हैं (10/4)। डॉ० अम्बेडकर भी इस मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं—''शूद्र आर्य ही थे अर्थात् वे जीवन की आर्यपद्धति में विश्वास रखते थे। शूद्रों को आर्य स्वीकार किया गया था।''[1] और ''आर्य जातियों का अर्थ है चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। दूसरे शब्दों में मनु चार वर्णों को आर्यवाद का सार मानते हैं।''[2] और भी—''मनुस्मृति 10/4 श्लोक **(ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः....)** दो कारणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इसमें शूद्रों को दस्यु से भिन्न बताया गया है। दूसरे, इससे पता चलता है कि शूद्र आर्य हैं।''[3] इसी प्रकार वैदिक मान्यता यह है कि आर्य वर्णव्यवस्था के चारों वर्ण एक ही परमपुरुष से प्रकटीभूत हैं, अत: वे चारों वर्ण एक ही परमपुरुष से प्रकट होने के कारण एक ही वर्ग के हैं और उनमें असमानता, ऊँच-नीच, छुआछूत का कोई भेदभाव नहीं बनता। इस प्रकार जब भिन्न वर्ग ही सिद्ध नहीं होता तो उनमें वैमनस्य का अवसर ही उत्पन्न नहीं होता। स्पष्ट है कि शूद्र को आर्य के विरोधी वर्ग के रूप में प्रस्तुत करने की पृष्ठभूमि में कपटपूर्ण भावना निहित है।

आर्य-शूद्र वैमनस्य की अवधारणा इस कारण भी भ्रामक है, क्योंकि यह उस भ्रान्ति पर आधारित है कि वैदिक वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर निर्धारित होती थी जबकि वास्तविकता यह है कि वह गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर निर्धारित होती थी। इसी भ्रान्ति से भ्रमित होकर पाठक तीन वेदों

1-3.'डॉ० अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय', खण्ड सात, पृ० 322; खण्ड आठ, पृ० 217 तथा इस पर टिप्पणी।

में पाये जाने वाले वैदिक वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति दर्शाने वाले निम्नलिखित मन्त्र के अर्थ को ठीक नहीं समझ पाते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

(ऋग्वेद 10।90।12; यजु० 31।11; अथर्व० 19।6।6)

इस मन्त्र में पहली अर्थभ्रान्ति यह होती है कि पाठक इसमें वर्णस्थ व्यक्तियों की उत्पत्ति समझ लेते हैं जबकि यहाँ वर्णों की उत्पत्ति का कथन है। जैसे पहले मैट्रिक, बी.ए., एम.ए. कक्षाओं का निर्माण होता है फिर उनमें योग्यता के आधार पर प्रवेश होता है। ठीक उसी प्रकार परम-पुरुष से पहले वर्ण बनते हैं फिर गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर उनमें व्यक्तियों का प्रवेश होता है। दूसरी अर्थभ्रान्ति मुख आदि से उत्पत्ति की है, जबकि यह प्रतीकात्मक कर्मनिर्धारण है। मुख के गुणों को ग्रहण करने वाला ब्राह्मण वर्ण कहलायेगा, बाहुओं के गुणों वाला क्षत्रिय, जंघाओं के गुणों वाला वैश्य और पगों के गुणों की तुलना से शूद्र वर्ण कहा जायेगा। यहाँ व्यक्तियों की उत्पत्ति न तो सम्भव है और न अपेक्षित है क्योंकि व्यक्ति तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र दिन-प्रतिदिन बनते रहे हैं, बनते हैं जबकि यह उत्पत्ति तो एक ही बार आदि समाज में हुई है अतः यह वर्णों की उत्पत्ति का कथन है। मनुस्मृति में पहले 1/31 में वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है फिर कर्मनिर्धारण के द्वारा वर्णस्थ व्यक्तियों का निर्धारण है (1/87)। कर्मनिर्धारण ही यह स्पष्ट करता है कि वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर बनते हैं। यदि कर्म आचरण में नहीं होंगे तो वह उस वर्ण का नहीं माना जा सकता। जैसे अध्यापन करने वाला 'अध्यापक', वकालत करने वाला 'वकील', चिकित्सा करने वाला 'डॉक्टर' कहलाता है, उन-उन कर्मों के बिना नहीं।

वैदिक व्यवस्था में दो जन्म माने जाते हैं—1. मातृजन्म, 2. ब्रह्मजन्म अर्थात विद्याजन्म।[1] विद्याजन्म को प्राप्त कर और अपने अभीष्ट वर्ण की दीक्षा प्राप्त कर किसी भी कुल के जो बालक-बालिकाएँ स्नातक बनते थे

1. '**ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।**' *(मनुस्मृति 2।146)*

वे द्विज कहलाते थे और शिक्षा-दीक्षा के अनुसार आचार्य उनके वर्ण की घोषणा करता था। जो किसी भी कारण से गुरुकुल में प्रवेश नहीं लेते थे अथवा शिक्षा-दीक्षा पूर्ण नहीं करते थे वे 'एक जाति' एक मातृजन्म वाले अर्थात् शूद्र कहलाते थे।[1] वे जन्म से किसी भी कुल के हो सकते थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुल के। इस प्रकार द्विज और शूद्र बनने का आधार ब्रह्मजन्म और वर्णस्थ प्रशिक्षण था। यदि वैदिक वर्णव्यवस्था में जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था होती तो वह मातृजन्म से ही निर्धारित हो जाती, उसके निर्धारक तत्त्व ब्रह्मजन्म तथा आचार्य नहीं होते। देखिए वेदानुकूल आदिशास्त्र 'मनुस्मृति' के विधान—

(क) द्विजातियों की उत्पत्ति करने वाला उपनयन संस्कार तथा कर्तव्य कर्म हैं—

एषः प्रोक्तो द्विजातीनामौपनयनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यंजकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत॥ *(मनु० 2।68)*

अर्थ—यह मैंने वह उपनयन संस्कार कहा और उस कर्तव्य-संहिता को कहूँगा जिसके करने से बालक-बालिकाएँ 'द्विजाति' बनते हैं, दूसरे जन्म को धारण करते हैं।

(ख) माता-पिता से नहीं अपितु जाति अर्थात् वर्ण का जन्म तो आचार्य के द्वारा होता है। वही वर्ण मान्य और प्रामाणिक होता है जिस जाति जन्म को आचार्य देता है—

आचार्यस्त्वस्य या जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयाति सावित्र्या सा सत्याऽजराऽमरा॥ *(मनु० 2।148)*

(ग) इसी प्रकार कहा है कि ब्राह्मण का शरीर निम्न श्लोक वर्णित कर्मों के पालन से बनता है अर्थात् माता-पिता से ब्राह्मण नहीं बनता—

स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ *(मनु० 2।28)*

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि चारों कुलों के

---

1. **ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णाः द्विजातयः।**
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः, नास्ति तु पञ्चमः॥ *(मनु० 10।4)*

बालक-बालिकाएँ ही वर्ण शिक्षा-दीक्षा की रुचि के आधार पर स्वाभीष्ट वर्ण को धारण करते थे। कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य बनता था तो कोई शूद्र रह जाता था, जैसे आज एक ही परिवार का कोई व्यक्ति व्यापारी, कोई सेनाधिकारी तो कोई अध्यापक और कोई अशिक्षित रह जाता है। चारों कुलों के बालकों से बने 'शूद्र वर्ण' न तो कोई वर्ग हो सकता है और न परस्पर विरोध या वैमनस्य पनप सकता है, क्योंकि वे शूद्र भी उन्हीं के कुलों से होते हैं।

एक बार वर्ण-ग्रहण करने के बाद व्यक्तियों को यह भी स्वतन्त्रता थी कि पुनः अभीष्ट वर्ण-दीक्षा प्राप्त कर वर्ण-परिवर्तन कर सकता था। यह प्रक्रिया जन्मगत वर्ण को नकार देती है। देखिए—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्यात् वैश्यात् तथैव च॥ *(मनु० 10/65)*

अर्थ—'ब्राह्मण वर्ण की योग्यता प्राप्त करके शूद्र ब्राह्मण बन सकता है। कर्मों के त्याग से ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न का भी वर्ण परिवर्तन हो जाता है।'

इस श्लोक में पठित **'जातम्'** पद विशेष ध्यान देने योग्य है जो यह सिद्ध करता है कि जन्म से किसी भी कुल में उत्पन्न व्यक्ति का वर्ण बदल जाता था। इसी प्रकार मनु० 9/335 श्लोक में शूद्र को उत्तम वर्ण की प्राप्ति का विधान है।

दो वर्गों में वैमनस्य की प्रवृत्ति स्थिर जीवनशैली के आधार पर पनपती है, किन्तु वैदिक वर्णव्यवस्था में वर्ण परिवर्तन की स्वतन्त्रता होने के कारण किसी भी वर्ण की प्रकृति स्थिर नहीं थी। स्थिर नहीं होने के कारण ब्राह्मण से लेकर शूद्र वर्ण तक के व्यक्ति बदलते रहते थे। जहाँ व्यक्ति स्वयं और उनकी सन्तानें स्वेच्छा से या रुचि से वर्ण का चुनाव कर लेते थे तो उस स्थिति में कोई स्थिर वर्ग नहीं बन पाता था। वर्ग न बनने से विरोध या वैमनस्य का अवसर ही नहीं आता था।

कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों से इस प्रक्रिया की पुष्टि हो जाती है। शूद्र कुल में उत्पन्न कवष ऐलूष, वत्स काण्व, मातंग वेदार्थद्रष्टा ऋषि बने। अज्ञातकुल सत्यकाम जाबाल ब्रह्मवादी ऋषि बना। ब्रह्मा के ब्राह्मण कुल में

उत्पन्न मनु स्वायम्भुव क्षत्रिय राजा बना, फिर उसके तीन पौत्र महावीर, कवि और सवन क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। इसी प्रकार पूरे समुदाय का भी वर्ण परिवर्तन हुआ है जैसे पोखरना और पाठक 'ब्राह्मण' बने हैं। ये पहले निम्न जाति के थे।[1]

वेदोक्त प्रेम और सद्भाव का वर्णन हमें यह सुनिश्चित जानकारी देता है कि वैदिक वर्णव्यवस्था में ऊँच-नीच रहित समानता और भ्रातृभाव का व्यवहार था। आर्यों और शूद्रों के वैमनस्य की अवधारणा को मिथ्या सिद्ध करने वाले वेदों के निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

(क) रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि देहि रुचारुचम्॥ *(यजु० 18।48)*

अर्थ—हे परमात्मन्, मेरी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में सदा प्रीति बनी रहे। मुझमें प्रेमभाव को सुदृढ़ कीजिए। और—

(ख) प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये॥

(अथर्व० 19।62।1)

अर्थ—मुझे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों का प्रियपात्र बनाओ।

प्रश्न यह है कि वैमनस्य की स्थिति यदि होती तो क्या परस्पर प्रियपात्र होने की कामना की जाती?

व्यावहारिक धरातल पर हम देखते हैं कि मनुस्मृति आदि शास्त्रों में शूद्रों के कर्तव्य 'द्विज वर्णों के सेवाकार्य' बतलाये हैं। शूद्र द्विजों के घरों में भोजन निर्माण, स्वच्छता, सेवकाई आदि सभी प्रकार के कार्य करते थे। घरों में प्रत्येक कार्य में भागीदार रहने वाले और सदा साथ रहनेवाले व्यक्ति न तो अछूत हो सकते हैं, न उनके साथ भेदभाव का व्यवहार किया जा सकता है और न उनके साथ वैमनस्य हो सकता है। महर्षि मनु ने तो शूद्रों के प्रति प्रेम, सद्भाव और करुणा का ऐसा महान् उदाहरण प्रस्तुत किया है कि वैसा उदाहरण संसार की किसी सभ्यता में नहीं मिलता। पाठक विचारें कि

1. 'हिन्दी विश्वकोश' भाग 4, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

जिनके प्रति वैमनस्य होता है क्या उन्हें मेहमान की तरह भोजन कराने का निर्देश दिया जाता है? देखिए—

भुक्तवत्सु अथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चात् अवशिष्टं तु दम्पती॥ *(3/116)*

अर्थात्—'घर में आये हुए विद्वान् अतिथियों और अपने सेवकों (जो शूद्र होते हैं) को पहले भोजन कराके उसके पश्चात् अवशिष्ट = शेष भोजन दम्पती स्वयं करें।' कैसा महान् आदर्श प्रस्तुत किया है वैदिक धर्मशास्त्रकार ने! आर्य शूद्र सद्भाव को सिद्ध करने के लिए क्या यह एक ही महाप्रमाण पर्याप्त नहीं है?

शूद्रों के प्रति दण्डात्मक व्यवस्था की चर्चा किये बिना यह आलेख अपूर्ण रहेगा, अत: उसकी संक्षिप्त चर्चा की जाती है। मनु की दण्डव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व हैं—1. अपराध की प्रकृति, 2. अपराध का दुष्प्रभाव, 3. अपराधकर्ता का पद व प्रतिष्ठा। इन आधारों पर वे यथायोग्य दण्ड का विधान करते हैं। वे उच्च पद वाले को अधिक और निम्न पद वाले को अल्प दण्ड का विधान करते हैं क्योंकि उच्च पद वाला व्यक्ति अपराध के गुण-दोष का अधिक ज्ञाता है। 8/337-338 में प्रस्तुत दण्डसिद्धान्त के अनुसार मनु कहते हैं कि जिस अपराध में शूद्र को आठ पैसे दण्ड दिया जाये, वहीं वैश्य को 16 पैसे, क्षत्रिय को 32 पैसे, ब्राह्मण को 64 पैसे अथवा 100 पैसे अथवा 128 पैसे दण्ड दिया जाये। क्योंकि वह अपराध का अधिक ज्ञाता है।[1] यही दण्डसिद्धान्त मौलिक है। वैमनस्य में कम दण्ड देने का विधान किया जाता है या अधिक दण्ड का? साधारण पाठक भी इसका उत्तर सोच सकता है।

स्थालीपुलाक न्याय से, उक्त प्रमाणों से हमें वैदिक दृष्टि की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। शूद्र के प्रति भेदभाव, अन्याय, छुआछूत और वैमनस्य के जो उल्लेख मिलते हैं, वे जन्मगत जातिव्यवस्था

---

1. **अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।**
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य तु॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः तद्दोष गुणविद्धि सः॥ मनु० 8/337-338

की देन हैं। जन्मगत जातिव्यवस्था का उद्‌भव बुद्धकाल से कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ था। उस समय जन्म के आधार पर वर्ग बन चले। फिर उनमें वैमनस्य पनपा। जन्मना जातिवाद के समय जो पक्षपातपूर्ण लेखन हुआ, उसको प्राचीन ग्रन्थों में मिला दिया गया। उन्हीं के कारण कर्मणा वर्णव्यवस्था में जन्मना वर्णव्यवस्था की भ्रान्तियाँ पनप गईं। वैदिक व्यवस्था में आर्य-शूद्र वैमनस्य की परिकल्पना निरर्थक हैं और आधारहीन है क्योंकि उस व्यवस्था में वैमनस्य के अंकुरित और पल्लवित होने के स्थिर अवसर ही नहीं थे।

13

किस मनु का विरोध किया है डॉ० अम्बेडकर ने?

डॉ० सुरेन्द्रकुमार
(मनुस्मृति भाष्यकार एवं समीक्षक)

(अ) डॉ० अम्बेडकर का मनु प्राचीन मनुओं से भिन्न है : डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर 'मनु' का नाम लेकर कटु आलोचना की है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि वे किस मनु का समर्थन कर रहे हैं और किसकी आलोचना कर रहे हैं?

इसका उत्तर उन्होंने स्वयं दे दिया है। डॉ० अम्बेडकर के अनुयायी और मनु-विरोधियों को उस पर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। उन्होंने मनुस्मृति-विषयक एक नयी मान्यता स्वीकृत की है। उस मान्यता को लेकर मतभेद हो सकता है, किन्तु उन्होंने इस स्वीकृति में यह स्पष्ट कर दिया कि मैं किस 'मनु' नामक व्यक्ति का विरोध कर रहा हूँ। डॉ० अम्बेडकर की मान्यता है कि वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति आदिकालीन मनु द्वारा रचित नहीं है, अपितु **पुष्यमित्र शुङ्ग (ई. पूर्व 185) के काल में 'मनु सुमति भार्गव' नाम के व्यक्ति ने** इसको रचा है और उस पर अपना छद्म नाम 'मनु' लिख दिया है। वही सुमति भार्गव उनकी निन्दा और आलोचना का केन्द्र है। इस बात को उन्होंने दो स्थलों पर स्वयं स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—(क) ''प्राचीन भारतीय इतिहास में 'मनु' आदरसूचक संज्ञा थी। इस संहिता (मनुस्मृति) को गौरव प्रदान करने के उद्देश्य से मनु को इसका रचयिता कह दिया गया। इसमें कोई शक नहीं है कि यह लोगों को धोखे में रखने के लिए किया गया। जैसी कि प्राचीन प्रथा थी, इस संहिता को भृगु के वंश से जोड़ दिया गया।''''इसमें हमें इस संहिता के लेखक के परिवार के नाम की जानकारी मिलती है। लेखक का व्यक्तिगत नाम इस पुस्तक में नहीं बताया गया है, जबकि कई

लोगों को इसका ज्ञान था। लगभग चौथी शताब्दी में नारद स्मृति के लेखक को मनुस्मृति के लेखक का नाम ज्ञात था। नारद के अनुसार 'सुमति भार्गव' नाम के एक व्यक्ति थे जिन्होंने मनुसंहिता की रचना की।'''इस प्रकार **मनु नाम 'सुमति भार्गव' का छद्म नाम था और वह ही इसके वास्तविक रचयिता थे''** (अम्बेडकर वाङ्मय, भाग 7, पृ० 151)।

एक अन्य पुस्तक में वे लिखते हैं—''मनु के काल-निर्धारण के प्रसंग में मैंने सन्दर्भ देते हुए बताया था कि **मनुस्मृति का लेखन** ईसवी पूर्व 185, अर्थात पुष्यमित्र की क्रान्ति के बाद **सुमति भार्गव के हाथों हुआ था।''** (वही, भाग 7, पृ० 116)

(ग) ''पाणिनि ईसा से 300 वर्ष पहले हुआ। मनु ईसा के 200 वर्ष पूर्व हुआ।'' (वही, खण्ड 6, पृ० 59)

(घ) ''मनु एक कर्मचारी था जिसे ऐसे दर्शन की स्थापना के लिए रखा गया था जो ऐसे वर्ग के हितों का पोषण करे जिस समूह में वह पैदा हुआ था और जिसका महामानव (ब्राह्मण) होने का हक उसके गुणहीन होने के बावजूद भी न छीना जाये।'' (वही, खण्ड 6, पृ० 155)

उक्त उद्धरणों की समीक्षा से ये निष्कर्ष सामने आता है कि सृष्टि का आदिकालीन मनु स्वायम्भुव या मनु वैवस्वत किसी के कर्मचारी नहीं थे, वे स्वयं चक्रवर्ती राजा (राजर्षि) थे। डॉ० अम्बेडकर का यह कथन उन पर लागू नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि यह कथन मनु नामधारी सुमति भार्गव के लिए है जो ई. पूर्व 185 में राजा पुष्यमित्र शुङ्ग का कर्मचारी था। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर प्राचीन मनुओं का विरोध नहीं करते अपितु वे वस्तुतः पुष्यमित्र-कालीन मनु छद्म नामधारी सुमति भार्गव का विरोध करते हैं।

(ङ) ''बौद्ध धर्म के पतन के कारणों से सम्बन्धित तथ्यों को उस ब्राह्मण साहित्य से छान-बीन कर एकत्र किया जाना चाहिए, जो पुष्यमित्र की राजनीतिक विजय के बाद लिखा गया था। इस साहित्य को छह भागों में बाँटा जा सकता है—(1) मनुस्मृति, (2) गीता, (3) शंकराचार्य का वेदान्त, (4) महाभारत, (5) रामायण और (6) पुराण।'' (वही, खण्ड 7, ब्राह्मण साहित्य, पृ० 115)

डॉ० अम्बेडकर यदि उपलब्ध मनुस्मृति को ईसा पूर्व 185 की रचना मानते हैं और उसे 'मनु' छद्म नामधारी सुमति भार्गव रचित मानते हैं तो प्राचीन मनुओं ने कौन-सा धर्मशास्त्र रचा? यह प्रश्न शेष रहता है। उसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है। उनका कहना है—

(च) ''वर्तमान मनुस्मृति से पूर्व दो अन्य ग्रन्थ विद्यमान थे। इनमें से एक **'मानव अर्थशास्त्र'** अथवा **'मानवराजशास्त्र'** अथवा **'मानव राजधर्मशास्त्र'** के नाम से एक पुस्तक बतायी जाती थी। एक अन्य पुस्तक **'मानव गृह्यसूत्र'** के नाम से जानी जाती थी।'' (वही, भाग 7, पृ० 152)

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि डॉ० अम्बेडकर ने अपने आदिपुरुषों और आदि विधिप्रणेताओं प्राचीन-मनुओं और उन द्वारा रचित साहित्य की आलोचना नहीं की है उन्होंने तो 185 ईस्वी पूर्व पुष्यमित्र शुङ्ग के काल में 'मनु' छद्म नामधारी सुमति भार्गव और उनके द्वारा रचित जाति-पाँति विधायक विधानों की आलोचना की है।

(आ) वह मनु मौर्यकालीन सुमति भार्गव है : पाश्चात्य लेखकों की समीक्षा से प्रभावित होकर डॉ० अम्बेडकर ने मनुस्मृति का काल 185 ई.पू. माना और इसका आद्य रचयिता 'सुमति भार्गव मनु' को माना। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों की परम्परा का ज्ञान तथा उनका गम्भीर अध्ययन न होने के कारण डॉ० अम्बेडकर इस विषयक तथ्यात्मक चिन्तन नहीं कर सके। उनसे यह भूल हुई है। गत पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वास्तविकता यह है कि मनुस्मृति मूलतः स्वायम्भुव मनु की रचना है। यह आदिकालीन है। जैसा कि एक स्थान पर डॉ० अम्बेडकर ने स्वयं लिखा है—

''इससे प्रकट होता है केवल मनु ने विधान बनाया। जो स्वायम्भुव मनु था।'' (अम्बेडकर वाङ्मय, खण्ड 8, पृ० 283)

इस मनु तथा इसके धर्मशास्त्र का उल्लेख प्राचीनतम संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता, बौद्धसाहित्य, जैनसाहित्य, पुराणों और प्राचीन शिलालेखों में आता है जो ईसा से बहुत पहले की कृतियाँ हैं। अतः मनुस्मृति को मूलतः और पूर्णतः सुमति भार्गव की आद्य रचना मानना एक ऐतिहासिक भूल है तथा साहित्यिक परम्परा के विपरीत है। वंश-परम्परा और काल-परम्परा की कसौटी पर भी यह

स्थापना गलत सिद्ध होती है।

डॉ० अम्बेडकर ने जिस सुमति भार्गव का उल्लेख किया है, उन्होंने लिखा है कि उसकी चर्चा नारद-स्मृति में आती है। यह अनुमान विश्वास किये जाने योग्य है कि बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद, ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग (185 ई०) के द्वारा अपने राजा की हत्या करके स्वयं को राजा घोषित करने के उपरान्त, उसके द्वारा जब ब्राह्मणवाद की पुनः स्थापना हुई, तब सुमति भार्गव ने मनुस्मृति में पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्धन किये हों और उसका एक नया संस्करण तैयार किया हो जिसमें वर्णव्यवस्था पर जन्मना जातिवाद की स्थापना करने की कोशिश की गयी है। यही कारण है कि उपलब्ध मनुस्मृति में दोनों सिद्धान्तों का विधान करने वाले परस्पर-विरोधी श्लोक साथ-साथ पाये जाते हैं।

डॉ० अम्बेडकर यदि इस पक्ष पर विशेष विचार कर लेते कि मनुस्मृति में एक ओर गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित व्यवस्था वाले, शूद्र और नारियों का सम्मान बढ़ाने, न्यायपूर्ण श्लोक हैं, जिनका कि प्रमाण देकर स्वयं उन्होंने भी एक तरह से समर्थन किया है तथा दूसरी ओर जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-अछूत वर्णक एवं पक्षपातपूर्ण श्लोक हैं। किसी विद्वान् की रचना में यह दोष सम्भव नहीं है, फिर मनुस्मृति में क्यों है ? तब उन्हें स्वतः उत्तर मिल जाता कि इसमें बाद में लोगों ने प्रक्षेप किये हैं। डॉ० अम्बेडकर ने वेदों में पुरुष-सूक्त को प्रक्षिप्त माना, रामायण, महाभारत, गीता, पुराणों में प्रक्षेप होना स्वीकार किया, किन्तु मनुस्मृति में प्रक्षेपों का होना नहीं माना। यह न केवल आश्चर्यपूर्ण है, अपितु रहस्यमय भी है! उन्होंने ऐसा क्यों नहीं स्वीकार किया, यह विचारणीय है! उन्होंने इस विसंगति का उत्तर भी नहीं दिया कि मनुस्मृति में प्रकरणविरोधी और परस्परविरोधी श्लोक क्यों हैं ? यदि वे इस बात का उत्तर देने को उद्यत होते तो उन्हें प्रक्षेपों की सच्चाई को अवश्य स्वीकार करना ही पड़ता।

(इ) डॉ० अम्बेडकर के चिन्तन के निष्कर्ष : डॉ० अम्बेडकर की मान्यताओं से हमें ये निष्कर्ष मिलते हैं—

1. डॉ० अम्बेडकर का नाम लेकर बात-बात पर मनु एवं मनुस्मृति का विरोध करने और मनुवाद का नारा देनेवाले उनके अनुयायियों का

कर्तव्य बनता है कि उनकी इस विषयक मान्यता स्पष्ट हो आने के बाद अब उसे ईमानदारी से स्वीकार करें और आचरण में लायें। उन्हें स्पष्ट करना चाहिए कि वे आदिपुरुष मनु का नहीं, अपितु छद्म नामधारी सुमति भार्गव का विरोध कर रहे हैं।

अब उन्हें '**मनु**' और '**मनुवाद**' शब्दों का प्रयोग छोड़कर 'सुमति भार्गव' और '**सुमति भार्गववाद**' शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि 'मनु' प्रयोग से भ्रान्ति फैलती है और निर्दोष आदि-पुरुषों का देश-विदेश में अपमान होता है। ऐसा करना अपने आदिपुरुषों के साथ अन्याय है। इस बात को यदि हम इस प्रकार समझें तो बात आसानी से समझ में आ जायेगी। जैसे, आज कोई व्यक्ति 'अम्बेडकर' छद्म नाम रखकर जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि कुप्रथाओं का समर्थक ग्रन्थ लिख दे, तो उसे संविधान प्रस्तोता अम्बेडकर का ग्रन्थ कहना और उस विचारधारा को 'अम्बेडकरवाद' कहना अनुचित होगा, उसी प्रकार जाति-पाँति विषयक श्लोकों को 'मनुरचित' कहना या 'मनुवाद' कहना अनुचित है। क्योंकि आदिकालीन मनुओं के समय जाति-पाँति नहीं थी, और जाति-पाँति जब चली तब उन मनुओं का अस्तित्व नहीं था।

2. उन्हें यह स्पष्ट बताना चाहिए कि हम उस 'मनु' छद्मनामधारी **सुमति भार्गव-रचित स्मृति** के उन अंशों का विरोध कर रहे हैं जिनमें जातिवाद का वर्णन है और जो 185 ईसवी पूर्व लिखे गये थे क्योंकि डॉ० अम्बेडकर ने इसी सुमति भार्गव का विरोध किया है। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि उन द्वारा प्रयुक्त 'मनु' नाम इसी व्यक्ति का छद्म नाम है।

3. डॉ० अम्बेडकर ने शूद्रों के भी 'आदरणीय' 'आदिपुरुष' मनु या मनुओं का कहीं भी विरोध कर उन्हें अपमानित नहीं किया, अपितु तत्कालीन व्यवस्था की प्रशंसा ही की है। डॉ० अम्बेडकर का लक्ष्य यह नहीं था। डॉ० अम्बेडकर के अनुयायियों को भी अपने 'आदिपुरुष' मनुओं का विरोध त्याग देना चाहिए।

4. डॉ० अम्बेडकर ने जिस छद्म नामधारी 'मनु' का विरोध किया है उस पर आरोप है कि उसने शूद्रों के लिए अत्याचार और अन्यायपूर्ण तथा

अमानवीय व्यवस्थाएँ निर्मित कीं, जिनके कारण शूद्र पिछड़ते चले गये और दलित हो गये। कोई कितनी भी निन्दा करे किन्तु जब भी दो विचारधाराओं का टकराव होता है तब विजेता विजित पर बदले की भावना से या आक्रोश में अमानवीय व्यवहार करता है और विपक्षी का भरसक दमन करता है। गत कुछ सहस्राब्दियों में ऐसा यदि ब्राह्मणों ने शूद्रों के साथ किया तो शूद्रों ने ब्राह्मणों के भी साथ किया। डॉ० अम्बेडकर ने माना है कि "**इसके पश्चात् मौर्य हुए जिन्होंने ईसा पूर्व 322 से ईसा पूर्व 183 शताब्दी तक शासन किया, वे भी शूद्र थे। इस प्रकार लभग 140 वर्षों तक मौर्य साम्राज्य रहा, ब्राह्मण दलित और दलितवर्गों की तरह रहे। बेचारे ब्राह्मणों के पास बौद्ध साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं था। यही विशेष कारण था, जिससे पुष्यमित्र ने मौर्यसाम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया।**" (वही, भाग 7, 'शूद्र और प्रतिक्रान्ति', पृ० 323, ब्राह्मणवाद की विजय, पृ० 149)

5. जो कुछ हुआ, वह वैचारिक वर्गसंघर्ष का परिणाम था। अपने-अपने समय में दोनों ने एक-दूसरे को '**दलित**' बनाने में कोई कसर नहीं रखी। लेकिन दोनों को आज उस अतीत को भुलाकर लोकतान्त्रिक ढंग से रहना होगा। आज भारत में लोकतन्त्र प्रणाली है और शासन-प्रशासन एक नये संविधान के अनुसार चलता है। इस प्रणाली में सभी समुदायों और महापुरुषों के लिए समान स्थान है। बात-बात पर किसी समुदाय और महापुरुष का विरोध करना और असहनशीलता का प्रदर्शन करना, कदापि उचित नहीं माना जा सकता। इससे एक नये वर्गसंघर्ष की आशंका बढ़ती जायेगी जो समरसता, सुधारीकरण की प्रक्रिया और लोकतन्त्र-प्रणाली के लिए अशुभ सिद्ध होगी।

6. जो लोग अपने को 'शूद्र' समझते हैं और अभी तक किसी कारण से स्वयं को 'शूद्रकोटि' में मानकर मानवीय स्वाभाविक अधिकारों से वञ्चित रखा हुआ है, मनु को धर्मगुरु मानने वाला और मनु के सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं पर चलनेवाला महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्तित 'आर्यसमाज' योग्यतानुसार किसी भी वर्ण में दीक्षित होने का उनका आह्वान करता है और उन्हें व्यावहारिक अवसर देता है। उनसे समानता, सहृदयता का

व्यवहार करता है। उनके हितों का पक्षधर है। जब आज का संविधान नहीं बना था, उससे बहुत पहले महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति के आदेशों के परिप्रेक्ष्यों में छूत-अछूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, नारी-शूद्रों को न पढ़ाना, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, सतीप्रथा, शोषण आदि को सामाजिक बुराइयाँ घोषित करके उनके विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया था। नारियों के लिए गुरुकुल और विद्यालय खोले। अपनी शिक्षा संस्थाओं में कथित शूद्रों को प्रवेश दिया। परिणामस्वरूप वहाँ से शिक्षित सैकड़ों दलित युवक-युवतियाँ संस्कृत एवं वेद-शास्त्रों के विद्वान् स्नातक बन चुके हैं।

दलित जाति के लोग क्यों भूलते हैं कि उनकी अस्पृश्यता को मिटाने के लिए मनु के अनुगामी ऋषि दयानन्द के शिष्य कितने ही आर्यसमाजी स्वयं 'अस्पृश्य' बन गये थे, किन्तु उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष को नहीं छोड़ा। आज आर्यसमाज का वह संघर्ष स्वतन्त्र भारत का आन्दोलन बन चुका है। आज भी आर्यसमाज का प्रमुख लक्ष्य जातिभेद-उन्मूलन और सबको शिक्षा का समान अधिकार दिलाना है। दलित जन आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश लेकर भेदभाव रहित परिवेश में वेदादिशास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं। आर्यसमाज सिद्धान्त और मानवीय, दोनों आधारों पर दलित एवं पिछड़े वर्गों का स्वाभाविक हितैषी है। जो दलित या अन्य लेखक दलितोत्थान में आर्यसमाज के योगदान से अनभिज्ञ रहकर आर्यसमाज पर भी सन्देहात्मक प्रतिक्रिया करते हैं, यह उनकी अकृतज्ञता ही कही जायेगी।

बुद्धिमानी इसी में है कि दोनों को मिलकर अमानवीय व्यवस्थाओं, सामाजिक कुप्रथाओं, रूढ़-परम्पराओं तथा कुरीतियों के विरुद्ध प्रयत्न जारी रखने चाहिए। बहुत-सी कुप्रथाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं, शेष भी हो जायेंगी। परस्पर आरोप-प्रत्यारोप में उलझने तथा प्रतिशोधात्मक मानसिकता अपनाने के बजाय, आइए, उस रूढ़ विचारधारा के विरुद्ध मिलकर संघर्ष करें। जिस विचारधारा ने संस्कृति और मानवता को कलंकित किया है, समाज को विघटित किया है, राष्ट्र को खण्डित किया है और जिसने असंख्य लोगों के जीवन को असमानता के नरक में धकेल कर नारकीय जीवन जीने को विवश किया है। आइए, उस नरक को स्वर्ग में बदलने का संकल्प लें।

●●